श्री नरेश मेहता

: उपन्यास :

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद—१

फाल्गुन प्रिया महिमा को

इस उपन्यास की कथावस्तु बिल्कुल भी नवीन नहीं है बल्कि इसमें प्रेमकथाओं वाला वह त्रिकोण तक है जिसका प्रयोग सस्ते उपन्यासों से लेकर महान रचनाओं तक में किया जा चुका है तब, ऐसी स्थिति में लेखक का प्रयोजन क्या है ? संभवतः यही प्रश्न मेरे सामने भी रहा है, इसे लिखने के पूर्व भी एवं बाद भी इस उपन्यास के चरित्र घटनाओं में नहीं, स्थितियों में खड़े है तथा अन्त में पहुँचते भी है।
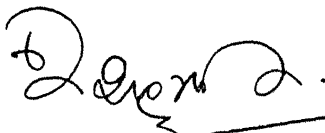
आज के जीवन में सामान्यतः घटनाएँ नही घटतीं बल्कि स्थितियाँ उत्पन्न होती है। संभवतः इसी अर्थ में नायक विवेक और नायिका वानीरा अगत्या उस स्थिति में खड़े होते हैं जहाँ घटना घटनी चाहिए थी पर केवल स्थिति ही उत्पन्न होती है। इसका कारण हमारा आज का आधुनिक ढाँचा है। वैसे यह प्रेम का नहीं वरन प्रेम के तनाव का उपन्यास है, सभी अर्थों में। साथ ही आज के उपन्यास को आज का ही होना है अतएव उसे आगामी कल की दृष्टि से तो पढा जा सकता है लेकिन विगत की दृष्टि से तो नहीं ही।

और अन्त में यह कि प्रेम-उपन्यास लिखना जितना आसान है उतना ही संकटपूर्ण भी, कारण कि सेंटीमेंटल तथा इमोशनल के बीच जितनी क्षीण रेखा इस क्षेत्र में होती है, अन्यत्र नहीं। इस अर्थ में लेखक के लिए यह परीक्षा-क्षेत्र है। अस्तु, इति नमस्कारान्ते।

४ मार्च, १९६४
९९ ए, लूकरगंज
इलाहाबाद

जैसे ही स्टीमर का साइरन बोला तो लगा कि चारो ओर कैसी अनायास स्तब्धता अब तक थी। पाण्डू के सूने घाट तथा आसपास के पहाडी कगारो पर साइरन की भरी-भरी आवाज का थक्का क्रमश: घुलने लगा। हरी लबी घास हवा मे असम्पृक्त हो लहराते हुए दृष्टि को फैलाव दे रही थी। इस हठात उद्घोष ने स्टीमर को सायास प्रमुखता दी थी, इसलिए तीसरे प्रहर के इस शान्त विपुल व्यापार में स्टीमर, एक भद्दी आवाज वाला आदिम जीव सा लगने लगा। स्टीमर से सटा बॉस का लंबा पुल न केवल नगण्य ही बल्कि विमन भी लगने लगा। इक्के-दुक्के लोगों ने उस पर से लौटते हुए पुल को उदास तक बना डाला। जिधर से ब्रह्मपुत्र आ रहा था उधर की विशाल घाटी मे साइरन की बड़ी भीगी-भीगी-सी अनुगूँज का आभास हो रहा था। किनारे पर यात्रियों वाले शेड मे खड़े हुए लोगो के विदाई देते हाथ तथा हिलते रूमाल करुणा उत्पन्न कर रहे थे। किनारे पर औधी पड़ी नाव का पेदा तारकोल सुखाता, बालू के भूरेपन में उभर आया था। और स्टीमर के बड़े पहिए ने अथाह नील लोहित जल को बड़े ही औत्सविक ढग से काटना शुरू किया। शोर इतना था कि जैसे कोई विकराल मच्छ एकबारगी ही ऊपर आ जाना चाहता हो। चूँकि फैलाव और विस्तार अधिक था अतएव इस व्यापार की स्तब्धता अकाट्य लग रही थी। धूप और आकाश दोनों ही दिसम्बर के तीसरे प्रहर के थे। हवा

का तेज, तीखा ठण्ढापन धूप के कोमल सूनेपन को झुलसाये दे रहा था। ब्रह्मपुत्र के गम्भीर प्रवाह के साथ बडे ही निश्चिन्त भाव से मस्तूल और पाल वाली बडो नौकाएँ अपनी लम्बी यात्राओ पर नीचे की ओर चली जा रही थी। किसी मल्लाह का एकान्त भटियाली स्वर ब्रह्मपुत्र पर लकीर-सा खिचा बह रहा था। उत्तर ओर की पहाडियो मे कामाख्या का मन्दिर लुका-छिपा धूप मे दीपित था। कुहरा शुरू होने मे देरी थी पर कही वह है, यह पहाडियो और खुली घाटियों को देखने पर स्पष्ट हो जाता था। बडे ही नाटकीय भाव से कुहरे की एक पतली, नीली चिदी एक शिखर पर नि शब्द लिपटी हुई थी। जिसके ठीक ऊपर गरुड की आकार वाला बादल का एक सफेद टुकडा झुका हुआ था। ये दोनो बिल्कुल भी अनायास नही कहे जा सकते थे। पूरब ओर उतरती पहाडियों के साथ आकाश खुलता चला गया था।

साइरन की तेज भेएँएँ एक बार फिर गूँजी। स्टीमर के नीचे के तल्ले में पहली आवाज के बाद जो शोर बिखर गया था, इस बार वह अधिक हो उठा। बड़े पहिए के पास लोहे का जो बड़ा सा जंगला था वहाँ थरथराती आँखों वाले कई चेहरे बिना समझे-बूझे चिल्ला रहे थे, सभवतः किसी चीज की जयकार थी वह। सेना और सिविल लोगो की वह सम्मिलित भीड़ थी। सहसा कही से लोकगीतों वाला एक आलाप उठा और छूटते किनारे तक लोगों की विह्वलता पहुँच गयी। इससे अधिक की अभिव्यक्ति किसी के पास नही थी इसलिए शोर हठात पानी की तरह एक साथ ही चू पड़ा और आलाप उभर आया। नीचे के तल्ले में बदबूदार अँधेरा, विभिन्न पसीनों की तेज दुर्गन्ध, भापीला वातावरण, लोकगीत का आलाप तथा बड़े पहिए का विकराल शोर था लेकिन डैक पर एकदम खुलापन था। यात्रियो मे शोर न सही तो इतनी हलचल तो थी ही कि हर दूसरा समझ रहा था। डैक की ताजी पुती छत और फर्श धूप में न केवल चमक ही रहे थे बल्कि उनके वार्निश की ताजी गन्ध भी आ रही थी। और तो और डैक की नीली

छत पर ब्रह्मपुत्र के हिलते जल के धूपित वर्तल तक दिख रहे थे। बड़े से जीने के दोनों तरफ सिरे की रेलिंगों पर झुका हुआ यहाँ का यह भद्र समुदाय किनारे वाले लोगो के प्रत्युत्तर मे अपने हाथ व रूमाल हिला रहा था। कुछ अपनी दूरबीनों में उलझे हुए थे। शेष, पाण्डू के रेलवे स्टेशन को, असम की छूटती हुई पहाडियों को तथा नील लोहित विराट नद को आश्चर्य से देख रहे थे। इनका शोर तक सयमित के साथ-साथ मित भी था। रेलिंगों से हटकर लोग डैक पर पडी कुर्सियो, कोचो, मोढो आदि पर बैठने लगे थे।

यात्रियो की इस भीड़ मे डैक के दक्षिणी सिरे पर, जिधर कि ब्रह्मपुत्र, आक्षितिज प्रवाहित था, श्री विवेक विश्वास अपनी सुन्दर पत्नी श्रीमती वानीरा विश्वास के साथ, एकान्त मन हो मस्तूलों और पालो को मात्र देख रहा था। उसमे कोई प्रतिक्रिया नही थी। वह निरभ्र आकाश कहा जा सकता था। उसका मौन, अकेले पक्षी की विवशता सा था। विवेक की उदासी का यही ढग होता है, इसे वानीरा जानती थी लेकिन, चूँकि वानीरा, असम छोडकर इस प्रकार जाने के बारे मे प्रसन्न है इसलिए विवेक, उदास होते हुए भी अपनी नितान्तता को मौन से ढँके हुए था। जैसे किनारो को देखकर ही स्टीमर की गति का बोध होता था, अन्यथा नहीं, वैसे ही वानीरा को देखकर ही विवेक को बूझा जा सकता था, अन्यथा नहीं। विवेक बॉस के सेतु को देख रहा था जिसके कारण वह अब तक अपने को किनारे से सबंधित किये था। जब वही क्रमशः दूर होने लगा तो विवेक विह्वल हो आया। वह सोच ले गया कि यह सेतु थोड़ी ही देर में क्षीणतर होते हुए मात्र एक अस्पष्ट बिन्दु हो जाएगा। पूरा सेतु उस बिन्दु में समाहित हो जाएगा। विवेक तब उस बिन्दु मे से वह सेतु खोजकर अपने सामने फैलाना चाहेगा ताकि वह सबंधित होना अनुभव कर सके . . लेकिन उसका यह प्रयास तब कितना व्यर्थ होगा। अनवरत यह सालेगा कि वह एक बार फिर सेतुहीन कर दिया गया है। डाक्टर विवेक विश्वास को सदा यह लगा है कि वानीरा अपनी सितार का

तार इतना कस देती है क वह झनझनाकर टूट जाता है। पर अपना-अपना ढंग ही तो है।

रेलिग से सटी कुर्सी पर बैठी वानीरा इस यात्रा के बारे मे क्या सोच रही थी यह विवेक नही जानता पर स्वय बहुत स्पष्ट नही था। संभवतः होना भी नही चाहता था, कारण कि जब वानोरा इस बारे में न केवल स्पष्ट ही थी बल्कि पूर्ण आश्वस्त थी तब विवेक के लिए केवल निरापद होने के और क्या शेष रह जाता था? आज मेजर आनन्द का वैसा ही विश्वासी आमत्रण न था जैसा कि पाँच वर्ष पूर्व मिस्टर क्लाइड का था? तब भी तो वानीरा ने दुराग्रह ही किया था कि पुरी छोडकर डिब्रूगढ मे प्रेक्टिस की जाए और आज वानीरा सुदूर उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद मे जाकर बसने का हठ किये कैसी आत्म-विश्वासी बनी बैठी है। जब सब वानीरा के द्वारा ही सम्पन्न होना है तब भला इसमे विवेक कहाँ आता है? ठीक है, न तब, न अब, उसे अच्छा नही लगा था पर अच्छा न लगने भर से ही क्या हो जाता है? वानीरा जानती है कि पुरी छोड़ते समय विवेक केवल उदास हुआ था जब कि इस बार डिब्रूगढ से चलते समय, बल्कि इस समय तक भी, विवेक न केवल उदास ही है बल्कि इस बार कही अन्तर मे आहत भी हुआ है। इसकी प्रतीति चाहे अब हुई हो पर इस आहत होने की सत्यता तो डिब्रूगढ के पाँच वर्ष के जीवन मे थी ही। तो क्या वानीरा निश्चिन्तता से बैठे भी नही? दोनों जिस अकाम भाव से बैठे थे उसमे कहना कठिन था कि निरभ्र कौन है। शायद निरभ्र कोई होता भी नही, आकाश भी नहीं।

सत्य यही था कि कुर्सी पर बैठी वानीरा के सामने न केवल दूसरो के आश्वासन वाला भविष्य ही था परन्तु अपना आत्मविश्वास भी था। जब कि विवेक अपने दाम्पत्य जीवन के गत आठ वर्षों को कोमल गध वाले फूलों के एक स्तवक की भाँति सहेजे अपने में लौटा हुआ था। इस गध के प्रति वह कितना सजग रहा है। रात-रात भर पुरी वाली अपनी कॉटेज की खिड़की के पास अनिर्वचनीय हो केवल

खडा रहा है। नक्षत्रों के नीचे वाले अँधेरे में प्रायः इस गंध की पद-चाप तक सुनी है। अस्फुट प्रार्थना वाले थरथराते ओठो से अपने भीतर के दर्द को अपने लिए भी अनभिव्यक्त ही रह जाने दिया है। वानीरा को सदा उसने नये फूल की भाँति प्रत्येक दिन ग्रहण किया है। उसको इस एकान्त निष्ठा के साक्षी सिन्धु, समुद्री हवा, हरहराते नारियल, शहतीरो में दुबके बैठे कबूतर आदि हैं कि वह कैसे क्रमशः टूटता चला गया—जैसे कि रेतघडी में बालू का एक-एक कण रिसकर पूरा समय बीत जाता है और इतने बडे बीत जाने की क्या प्रतीति होती है ? और उसके इस टूटने में एक क्षण को भी भूले से भी वानीरा का न तो उसके कधे पर झुका माथ ही था और न आश्वासित करता हुआ कोई चूडियो भरा हाथ। दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध मे विवेक किसी भी विगध को नही देख सकता था, पर......

रेलिग का डण्डा कुहनी में चुभने लगा था हवा के तेज ठण्डे सपाटे उसका मफलर बार-बार गिराये दे रहे थे। वानीरा ने इस बीच कान और सिर पर बाँधने वाला काला ऊनी रूमाल बाँध लिया था। चैक-वाले ओवरकोट की बड़ी कालर ने वानीरा के मुख को साध रखा था। अनायास धूप का एक लम्बा तिरछा टुकडा कही से भटककर आ गया था और वानीरा को सम्पूर्ण दीपित करता हुआ डैक की फर्श पर लबा छिछलकर रेलिग के पार कूदकर अदृश्य हो गया था। कुर्सी पर बैठी वानीरा के साथ-साथ विवेक की रेलिग पर झुकी छाया लंबी होकर फर्श पर उतर आयी थी। विवेक उस अपराह्न-श्री में स्नात एवं तृप्त अपनी पत्नी वानीरा के धूपित मुख को वैसे ही मत्रमुग्ध होकर देख रहा था जैसा कि वह उन दिनों पुरी में किया करता था जिन दिनों मिस्टर क्लाइड से विश्वास-दम्पति का परिचय हुआ था। क्लाइड के कहने पर ही वानिरा ने विवेक को डिब्रूगढ में चलकर प्रैक्टिस करने के लिए बाध्य किया था। कैसे वह रातो नही सोया करता था और एक रात बड़ी ही अस्तव्यस्तता में लालटेन हाथ में लेकर सोने वाले कमरे में पहुँचा था और तब इसी मुख को मात्र सोते हुए देखा था।

कितना निस्पन्द लगा था यही मुख, जैसे आकाश के नील विश्वास के नीचे कोई पोखर निस्पन्द सो रहा हो।... इस समय, इतने अन्तराल बाद भी यह जागते मे मुख वैसा ही निस्पन्द, निरभ्र है। कोई भी तः व्यतिपात नही। धूप को कैसे शात हो भोग रही है जैसे आकाश. भोगता है।... क्या यह आद्यन्त ऐसी ही है? दिखता तो स्वय विवेक भी ऐसा ही है। तब, दिखना, होने से क्या पृथक है? क्या बिना हुए. दिखा जा सकता है?

फर्श पर गिरती उनकी छायाओ को धूप ने बडे ही हास्यास्पद रूप से अब लम्बा कर दिया था। शायद उनके सिर रेलिगो तक पहुँच रहे थे। परन्तु ये छायाएँ भीषण रूप से, बल्कि हाहाकार की सीमा तक केवल विवेक मे खूब लम्बी हो गयी थी। उन गत आठ वर्षों के उन सारे कोनो-अंतरो के भर उठे जालो मे, जो कि वानीरा के कारण हो गये थे, ये छायाएँ टहलने लगी थी। वे विगत वर्ष, जिनकी सुगन्ध में विवेक एकान्तचारी था। वे दाम्पत्य जीवन के जाले जिनमे विवेक भटक रहा था।

पुरी के 'सी-बीच' के किनारे-किनारे अर्ध वृत्ताकार मे बँगलो की एक लम्बी-सी कतार यहाँ से वहाँ तक चली गयी है। मार्च और अक्तूबर में कलकत्ता-कटक से प्रायः लोग आकर अपने-अपने इन बँगलो मे कुछ दिन के लिए टिकते है वर्ना पूरे साल ये लगभग खाली-से पडे रहते हैं। अंधड़ के दिनों मे बालुओ के बगूले इन बँगलो की खिडकियों-दरवाजों के सूने पल्लो-शीशों पर चटाख-चटाख बोलते रहते हैं। विशेष कर रात मे हरहराते नारियल और साँय-सांय करती समुद्री हवा आदि अजीब वातावरण उत्पन्न करते है। इस सी-बीच को विकसित नही कहा जा सकता यद्यपि बंगाल की खाड़ी का यह नैसर्गिक रूप से बडा अच्छा तट है। अन्य यात्रियों के लिए साधारण सुविधाओ वाला एक बी० एन० आर० होटल है, जो अपने खुले कमरों तथा स्वस्थ वायु के लिए पूर्व में प्रसिद्ध है। पहाड़ के लिए बगाली जिस प्रकार दार्जिलिङ जाता है उसी प्रकार समुद्र के लिए वह यहाँ आता है। इसी अर्धवृत्ताकार के लगभग आखीर मे, पूर्वी सिरे पर जो कि ढूह जैसा है, वहाँ 'निर्जन सिकता' नामक एक छोटी-सी काटेज है। काटेज श्री प्रमथ मुखर्जी की है। प्रमथ बाबू स्थानीय कालेज में बँगला के अध्यापक थे। बानीरा इन्ही विधुर प्रमथ बाबू की एकमात्र सन्तान थी। वैसे प्रमथ बाबू है तो आज भी पर, लौकिक अर्थ मे 'थे' ही कहा जाएगा। बानीरा को विवेक जैसे सुपात्र के हाथो सौपकर बिना अधिक प्रतीक्षा

किये वह एक दिन स्थानीय चैतन्य-मठ मे जाकर श्री-श्री महाप्रभु की सेवा में समर्पित होकर श्री प्रमथचन्द्र मुखर्जी से वीतरागी 'नित्यानन्द' हो गये। विवेक ने तब अपनी डिस्पेन्सरी खोली ही थी। उसे प्रमथ बाबू की न केवल कन्या और काटेज ही प्राप्त हुई बल्कि प्रमथ बाबू का यश अपने जामाई बाबू के लिए कीर्ति सिद्ध हुआ जिसे विवेक ने अपने शील और सौम्यता से और भी स्वरूपित किया।

प्रमथ बाबू वीतरागी हो गये थे पर कन्या और जामाई तो नही न ? अतएव रोज डिस्पेन्सरी से विवेक जल्द लौट आता और तब वानीरा को साथ लेकर समुद्र के किनारे बालू मे चलते हुए मन्दिर जाने वाले रास्ते पर आ जाते। मन्दिर के सामने से होते हुए रथयात्रा वाले रास्ते से बाँये घूमकर पगडडी पकड़कर चैतन्य मठ की ओर बढ जाते। कच्ची हरी काजू का दूध दाँतों मे अनुभव करते मठ पहुँचते। वहाँ से सकीर्तन-प्रवचन सुन लौटने में मन्दिर के सामने की गली से शार्ट कट कर कालेज की बगल से निकल 'सी-बीच' वाली सड़क पर आ जाते। कालेज के आस-पास रहनेवाले वानीरा के सभी परिचित थे। कभी कोई मिल जाता अन्यथा प्राय. सब सुनसान होता। यह कालोनी 'सी-बीच' का पश्चिमी सिरा थो। यहीं से समुद्र गर्जन तथा तेज हवा के सपाटे उन्हे मिलने शुरू हो जाते। कभी-कभी तो घर पहुँचते-पहुँचते तक बालू उनके बालो, हाथ-मुँह सब पर छायी होती। उनका नौकर कालीपद जानता था कि बिना नहाये सोना नही हो सकेगा इसलिए मौसम के हिसाब से गरम, गुनगुना, ताजा सभी तरह का पानी तैयार रखता था। पुरी में प्रायः लोग 'जगन्नाथ का भात' ही खाते है। वह उनके लिए मात्र प्रसाद ही नहीं बल्कि उनका संस्कार भी है। जिस दिन भात-मछली न खाना होता उस दिन मठ से जल्दी लौटकर बी० एन० आर० होटल मे कटलेट-चाप खा लिया जाता।...और विवेक-वानीरा अपनी 'निर्जन-सिकता' पर पहुँचते।

काटेज, काटेज ही थी। पता नह' क्या सोचकर प्रमथ बाबू ने इसे नववाया था। क्योंकि चार कमरो के अलावा दो कोठरियों, एक

रान्नाघर, सहन, आँगन तथा थोड़ी सी खुली जगह वाली इस काटेज की विशेषता यह थी कि एक तो इसके चारों कमरो से सागर का पूरा दृश्य दिखता था तथा दूसरे इसका बाहर की ओर निकला गोल बारजा, जहाँ कभी प्रमथ बाबू एक आरामकुर्सी पर बैठकर जोर-जोर से रवीन्द्र-काव्य पढ़ते या किसी वैष्णव पद को पक्ति गुनगुनाते हुए ज्वार का आना देखा करते। अब इस बारजे में किसी दिन जल्दी जाग जाने पर विवेक और वानोरा जलभीगा विशाल सूर्योदय देखते हैं या कभी किसी पूर्णिमा को समुद्र का एकान्त अभिसार देखते है। वैसे वानीरा प्रायः तीसरे पहर की चाय यही बैठकर पीती है। यहाँ से पूरा अर्धवृत्त खिचा दिखता है। होटल की बालकनी, हरी खिड़कियाँ, उसके सामने की बैंचे, जिन पर बैठे हुए लोग.. बहुत कुछ देखना यही से बैठे-बैठे वह कर लिया करती है। यदि और कुछ न हुआ तो सामने फैली अगाध जलराशि मे सनातन आकर्षण तो था हो। बारम्बार देखने पर समुद्र स्वयं मोह बन जाता है।

प्रसन्न घर पहुँच दोनो देर रात तक ग्रामोफोन सुनते रहते। बडे से कमरे के एक कोने में जलती चार मोमबत्तियों का प्रकाश ही कितना होता? बड़ा बारीक प्रकाश वाला अँधेरा-अँधेरा कमरा। खुली खिडकी मे सागर आकर टँक जाता। चारों ओर गर्जन और हवा के अतिरिक्त कोई शब्द नही। किसी दिन वानीरा की सितार सुनी जाती अथवा कलकत्ते से मँगायी गयी नयी पुस्तकों का अवलोकन ही किया जाता। और अगर कुछ नहीं करने को मन होता तो वानीरा स्थानीय बंग समाज के प्रवादो को ही सुनाती होतो। वानीरा बातें करती होती और विवेक दवाइयो के पेम्फ्लेट्स पलटते हुए सुनता होता। और जिस समय दोनों सोने की तैयारी करते तब कैसी गहरी परितृप्ति उन्हे घेरे होती। कही कोई व्यतिपात नही था। जो था, वह अगाध ही था।

आये दिन कोई न कोई सामाजिक उत्सव, पारिवारिक आयोजन, सास्कृतिक अनुष्ठान, धार्मिक पर्व होते ही रहते। कालीबाड़ी की दुर्गापूजा से लेकर 'मेरी क्रिसमस' तक अपने को प्रसन्न एवं व्यस्त रखने के

अवसर थे। फिर भी ऐसा एकान्त था जिसमे अपनी ही पदाहटे भरी हुई थी। किसी दूसरे के आ जाने पर घर मे चहल-पहल हो जाया करती थी। उन आरम्भिक दिनो मे रविवार या किसी भी छुट्टी के दिन दोनो समुद्र-स्नान के लिए पहुँच जाते। वानीरा बालू मे लेट जाती और अनाड़ी ढंग से समुद्र-स्नान करते विवेक को हँसते हुए देखती रहती। वानीरा को कभी समुद्र-स्नान अच्छा नही लगा। औरते लहरों में पडकर जिस प्रकार परेशान होती है तथा लहरे जिस निर्ममता के साथ उन्हे छिन्न-भिन्न करके उठाकर फेंक देती है उसमे प्राय स्त्रियाँ उसे बडी निरीह लगती रही है और अपने को निरीह वह नही लगने दे सकती। कई बार विवेक ने आग्रह किया पर वह नही गयी। विवेक जब कभी ज्यादा परेशान होता कि अभी एक लहर से बचकर वह खड़ा हुआ ही कि दूसरी ने आकर बडी निर्ममता से उसे दबोच लिया तो जाने क्यों भय या शंका के बजाय वह बिल्कुल बच्चों की तरह तालियाँ बजाने लगती। कई बार स्वय उसे अपनी ही बात की असगति अनुभव होती और वह आप ही खिन्न हो जाती। प्राय ऐसे ही समय विवेक शैतान बच्चों की तरह किलकारी मारते हुए वानीरा की ओर झपटता होता। काले बालों वाली उसकी पुष्ट देह की ओर उसकी टकटकी बँध जाती। तभी विवेक उसे बालू पर लगभग घसीटता होता और वह किंचित झुँझलाते बरजती होती,

— अरे हाथ छोड़ो। छि:-छि:, यह क्या करते हो? कोई देखे तो क्या कहे?

— तो तुम हँस क्यों रही थी?

— बेवकूफों की तरह समुद्र-स्नान करते देख किसी को भी हँसी आ सकती है।

— जानती हो, समुद्र-स्नान से स्वास्थ्य ठीक रहता है।

— भले ही कोई बेवकूफो की तरह नहाये तब भी?

और प्रायः ऐसे ही मौकों पर खिलखिलाते हुए वानीरा अनचक्के ढेर सी बालू विवेक की देह पर या तो मल देती रही है अथवा उडा

देती रही है। उडी बालू का एक छोटा-सा लहराता झरना तट की धूप और हवा मे झिरझिराने लगता। विवेक पकडे इसके पूर्व ही वह अपने बाल उडाती, विस्तीर्ण बालुओ की चमकती पृष्ठभूमि मे अपनी छाया के साथ भागते हुए कैसी चित्र बन जाती रही है जैसे वह मरी-चिका बनकर ही रहेगी।

कालीबाडी मे दुर्गापूजा हो रही है। जूडे में सोने का फूल लगाये वानीरा, महिलाओ की भीड मे खड़ी अद्वितिया लगती है। अष्टमी का चन्द्रमा बाँसो और नारियल के झुण्ड के पीछे सौम्य है। गौरी की बिदा के पद गाये जा रहे हैं। आलाप और मृदग की थाप से रात बहुत विलम्बित लगती है। वानीरा का हाथ पकड़ विवेक जाने किस आवेश वश पोखर की ओर निकल आता है। पेड़ो की चिलबिलाती सघनता में चाँदनी की गोरी बूंदे फूटी पड़ रही हैं।

— कैसी निर्जनता है न ?

— हाँ, है तो।

वानीरा नही समझ पाती कि विवेक क्या कहना चाहता है। दोनो की सम्मिलित छाया पोखर मे कुछ दूर जाकर टुकडो मे पृथक होती सर्प बनी काँपती मिट रही होती है। बिदा के पदों की करुणता यहाँ तक आ रही होती है।

— क्या बात है विवेक ?

विवेक जिस प्रकार पुरुष बना वानीरा को देखता है उसमे उसकी नारी तन्मय ही होती है। वानीरा को अपना नारी होना सार्थक लगता है। इसी या ऐसे ही देखने के लिए ही तो इतना या ऐसा प्रसाधन-आयोजन नारी करती है या उसे करना होता है। वह विवेक को बूझ ले जाती है पर हम अपने बूझे हुए को सुनना भी चाहते है।

—बोलो क्या बात है ?

— कुछ नही, मन हुआ कि देखूँ कि एकान्त नि शब्द चाँदनी मे सोने का फूल लगाये तुम कैसी लगती हो ।

सच, वानीरा को सुनना सुहाया पर इसे अस्वीकारना इससे भी अच्छा होता है यह वानीरा जानती थी,

— छि·-छि, चार लोगो के बीच से उठाकर ऐसे यहां लिवा ले आये तो भला वे सब क्या सोचेगी ?

चॉदनी पूरी तरह वानीरा का अभिषेक करती छिटकी थी । विवेक बॉंस की एक टहनी पर झुका खडा था ।

— क्या किसी दिन तुम अपनी इस अप्रतिमता को मेरी आँखो से देख सकती हो वानीरा ? तुम्हे ऐसे देखना, एक उपलब्धि है ।

वानीरा जवाकुसुम हो उठती है । उसकी नाक की कील थोडी-सी छाया पडने पर सुलग उठती है । विवेक की बात वह अपने भीतर वैसे ही अनुभव करती है जैसे, नारी, पुरुष को अपने भीतर गहती है । वानीरा की आँखे सुख मे सजल हो-हो कैसी थरथराने लगती है जैसे मछलियो का एक जोड़ा तुरन्त किसी ने जल से निकाल कर शिला पर रख दिया हो । रक्त-चन्दन की गंध का एक छोटा-सा झोंका आया और निकल गया । हवा मे दोनों के वस्त्र सजीव हो उठे । वानीरा ने झुक कर पोखर से अँजुली भरी और हल्के छीटे विवेक पर उड़ा दिये और वह खिलखिलाती भागी । चॉदनी में उभकी वानीरा की एड़ी की महावर पगडडी पर दौड़ती हो चली गयी ।

दिन ।

एक के बाद अनेक दिन ।

कोमल गध वाले ऐसे दिनों की नानाविध पगडंडियों· पर, बालुओं

के विस्तार पर वे दो एकान्त बने अपने में तृप्त। वानीरा अपने जूड़े से बासी कुमुदिनी उतारती चली गयी और वे फूलों वाले दिन विवेक के हाथो मे ढेर के ढेर एकत्र होते चले गये। वानीरा अपनी देह से कुमुदिनियो को जल की भाँति नितारती चली गयी और विवेक की स्मृति मे उन गंधदिनो के स्तवक सजते चले गये। — रोज ऐसा लगता कि अभी तो आलाप आरम्भ ही हुआ था और राग शेष हो गया ? दिन बीत गया ? अप्राप्यता की कैसी व्याकुलता लगती इन बीत जाने वाले दिनों पर। सोती हुई वानीरा की मुँदी पलको मे लगता कि एक सम्पूर्ण सृष्टि को कल के जन्म की प्रतीक्षा है। — और विवेक अपने काँपते अनिश्चित ओठ उन पलको पर रख देता है, जैसे आपने प्यासे ओठ किसी शांत, ठहरे जल पर रख दिये हो।

होटल के सामने की बालू पर समुद्र-दर्शन के लिए जो बेंचे है उन पर बैठी हुई वानीरा अपने बचपन के स्वप्न सुना रही है। दूर-दूर तक निर्जन सैकत-तट पर प्रसार और हवा के सपाटे के अतिरिक्त कुछ नही है। पेडो का एक झुरमुट पीछे की ओर हटा-हटा सा दूरी पर खड़ा है। कोई समुद्री-पक्षी लहरो पर झपट्टा मारते हुए उड रहा है। सूर्यास्त के बाद के रग क्षितिज तक बिखरे पड़े है। उनमे कोई नियोजन नही लगता है।

— विवेक ! हमेशा मुझे लगता है कि मेरे सोने के डैने फूट आये है और कैसे लम्बा-लम्बा आकाश में तैर रही हूँ। आकाश बिलकुल जलवत लगता है। कही कुछ नही दिखायी पड़ता है। समुद्र, पृथ्वी ... कुछ भी तो नही दिखलायी देता। और मेरे विशाल डैने केवल लम्बा-लम्बा तैर रहे है। केवल अपने चारो ओर आकाश की अगाधता है — बस। और मै घबरा कर नीचे उतरना

चाहती हूँ पर डैने और ऊपर, और ऊपर, पता नही कहाँ ले जा रहे होते है — कि हठात घबरा उठती हूँ और नीद खुल जाती है। —विमूढ हो सोचती हूँ, लेकिन सब अस्पष्ट हो जाता है। कितनी ही बार अपने को इसी तरह देखा है।

समुद्री पक्षी जैसे उछलकर आकाश में पहुँच गया था और अब वह फिर झटके के साथ लम्बा तैर कर वापस समुद्र के उठे फन को झपट्टा मारने की चिन्ता मे था। वातावरण मे अँधेरापन आ चला था। वानीरा, विवेक का हाथ गह लेती है।

— कलकत्ता बहुत बडा शहर है न विवेक ?

— हाँ, बहुत ही बडा है। अब की बार क्रिसमस पर कलकत्ता ही चला जाएगा।

— क्यो ? क्रिसमस पर क्यो ? क्या क्रिसमस हमारा त्यौहार है ? पूजा पर क्यो नही ?

— नहीं, पूजा तो अभी बीती ही है। उसे आने में तो पूरा बरस है।

— जब मै बच्ची थी तब एक बार गयी थी। उस बरस कलकत्ते मे रवि बाबू आये थे और बाबा उनके दर्शन करने गये थे। वहाँ चौरगी है न, वहाँ मै खो गयी थी।

— कैसे ?

— खोया कैसे जाता है ? बस, वैसे ही मै भी खो गयी थी।

वानीरा की इस सरलता पर विवेक का मन हुआ कि वानीरा के दोनो कंधे इस तरह थामे रहे कि अब वह फिर कभी न खो सके। वह बोली,

— बेचारे बाबा कितने परेशान हुए थे।

वानीरा कुल इतना बोल कर मौन हो घिरते अँधेरे को अस्पष्ट ऐसे देखने लगो जैसे अभी भी वह अपने परेशान बाबा को देख रही है कि किस व्याकुलता से वह उसका नाम लेकर पुकार रहे हैं और ट्रामें-बसे बीच-बीच में आकर उन्हे क्षण भर को छुपा जाती है... इस बार थोड़े हँसते हुए बोली,

— विवेक ! और तो और यही रथयात्रा में एक बार कुचलते-कुचलते बची । जानते हो न कि कितनी भीड होती है और कैसा शोर होता है । विपुलता मे अपनी ओर खीचने की बड़ी भारी चुम्बक शक्ति होती है — इसीलिए तो मै सागर से उतनी नहीं डरती जितनी कि उसकी एकान्त विपुलता से ।

सामने के अधकार मे सागर की सत्ता से अधिक उसका घोष उभर आया था । सभवत· ज्वार का समय हो चला था ।

— तभी तो बाबा उसके बाद यही रट लगाये थे कि मेरा ब्याह हो जाए और तब सब कुछ छोड़कर वह सन्यासी हो जाएँ ।

विवेक बहुत करुण हो जाता है । वह कुछ कहना चाहता है पर वानीरा इस खुले अँधेरे के आलोक मे जिस मोहक ढग से उसे देखती है उसमें वह केवल अस्पष्ट हो जाता है । — ज्वार-जल बालुओं पर फेन पटकता, बढता उनके पैरो के आसपास लहरे और फेन लीप देता है । वानीरा प्रसन्न हो अपने पैरों मे ज्वार अनुभव करती बैठी होती है । दौड़ कर विवेक दोनों के बहते जूतो को उठाकर बैंच पर रखते हुए कहता है,

— चलो वानीरा, ज्वार आ रहा है ।

अँधेरे में, जो समुद्र थोड़ी ही देर पहले थोड़ी दूर पर था अब वह उफनाता पैरों के पास उठ दौडा था । घोष और साँय-साँय तट पर अनुगुंजित हो रहे थे । भीगे पैरो मे सूखी बालू का अनुभव पदचिन्ह बनता चला गया ।

होटल की बालकनी है । पीछे की ओर से आती हुई धूप मे वानीरा कट-आउट शैली मे चित्र लग रही है । उसकी तम्बाकू रग की भूषा ने उसे और भी सुलगा दिया है । कानो की बड़ी बालियाँ हौले से हिल रही है, जिनके बीच में धूप की एक बिन्दी भी चमकती हिल

रही है । उसके चित्र होने मे केवल फ्रेम की ही कमी है । आज दोनों प्रसन्न है, निश्चय ही बहुत प्रसन्न है । अभी थोड़ी देर पहले विवेक और वानीरा अपनी आदत के अनुसार बडी देर तक समुद्र मे पैर भिगोये बैठे रहे थे । यद्यपि आज पूरे दिन कैसा सघन कुहरा रहा है । परन्तु आज उनके विवाह की प्रथम वर्षग्रन्थि थी इसलिए रोज की अपेक्षा दोनो ही सवेरे जल्द जागे थे । सवेरे जैसे ही खिडकी खोली तो शैतान बच्चो की तरह ढेर सारा भीगा कुहरा कमरे मे घुस आया और देखते-देखते सारा कमरा ग्राउन्ड-ग्लास की झाँई सा लगने लगा था । अपने बारजे मे खडे होकर दोनो ने कितने तन्मय होकर नील कुहरे के पीछे होते हुए शालीन सूर्योदय की अभ्यर्थना की थी । सवेरे की ठडी हवा में नाक तक सुन्न हो गयी थी । चाय के समय तक कुहरा समुद्र की ओर पारदर्शी हो गया था जिसके नीचे शान्त समुद्र की छप-छप आ रही थी । भीगी बालू को अपनी ओर खीचता हुआ, लौटता जल कितना फेन भरा था । विवेक गाउन की कालरो को ऊँचा कर कुहरे मे खो गया । खिड़की में खड़ी वानीरा उस कुहरे मे विवेक का बालू पर चलना खोजती देख रही थी ।और कैसे अपनी अँजुली मे फेन समेटे वह लौटा था । और तब देर तक दोनों फेन के खोखले त्रिकोणों-षट-कोणों का निःशब्द फूटना देखते रहे थे । आज विवेक दिन भर डिस्पेन्सरी नही गया । वानीरा की कुहनी थामे विवेक आज दिन भर मारा-मारा फिरा था और इस समय जाकर वे दोनों होटल पहुँचे थे । कैसे पागलों की भाँति स्टेशन के खाली प्लेटफार्म पर मात्र टहलते रहे थे । पता नही इक्के-दुक्के लोगो ने क्या समझा होगा । अजीब मेघ और कुहराच्छन्न वाला दिन था । विवेक तो 'साखी-गोपाल' तक चलने को जिद करता रहा था । लेकिन जब वानीरा उद्यत न हुई तो पानी भरे खेतो और भीगी पगडडियो पर वानीरा को साथ घसीटता हुआ विवेक घूमता रहा । वानीरा अंदर गरम पेटीकोट तक पहने थी तथा कान बाँधे थी पर जमी सर्दी थी, यद्यपि विवेक निर्द्वन्द्व ही बना रहा । तीसरे प्रहर जब कुहरा और बादल छँटने के आसार दिखे तब

भला ऐसे मे विवेक वानीरा को समुद्र तट न ले जाता ? यद्यपि वानीरा सर्दी खा गयी थी पर समुद्र का स्पर्श, हवा मे जमी सर्दी के अनुभव से कही सुखद था। और इस समय धूप को पीठ देकर बैठी वानीरा न केवल प्रसन्न ही थी बल्कि अग-अग थके होने पर भी तुष्ट एवं तृप्त थी, जैसे सम्पूर्ण भोगी गयी कोई रात्रि हो।

चाय की भाप का एक झीना-पतला भूरा झोंका भी बड़े ही पतले-पतले तैर कर उस घूप मे विलीन हो रहा होता है। चूँकि यात्रियो का यह सीजन नही था इसलिए होटल मे एकाध आवाज के कही कोई अपरिचित आहट तक नही थी।

— वानीरा ! आज का दिन तुम्हे शुभ हो।

वानीरा जब कुछ कहना चाहती है और फिर भी कहती नही है तब अपने अधर को अधिकतर हिला उसे एक दाँत से जरा सा कोने के वहाँ दाब लेती है। शेष अधर अनायास ही शंख का फैला पल्ला लगने लगता है। पर यह सब इतना नरम एवं क्षणान्त के लिए होता है कि सहसा ध्यान नही जा सकता। परन्तु यह उसकी सम्पूर्ण इन्द्रिय स्वीकृति होती है। उस क्षण वह न देह, न चेतना बल्कि आसन्न समर्पण होती है। उस क्षण वह स्वयं तो नही ही बोलती है पर कैसा भी बोलना सुन भी नहीं सकती है। वह समेटे जाने के लिए प्राप्या बनी केवल निढाल हुई रहती है। उस समय वह आँख बन जाती है। एक बड़ी सी आँख !!...दिन भर ओवरकोट टाँगे रहने के कारण कधे दुखने लगे होंगे पर इस समय धूप में सिकते हुए वे गोरे हो रहे हैं। उसकी ग्रीवा के नीचे तक, देह की चिकनी गोराई मे पतला लाकेट साँसों के साथ उठ-गिर रहा है।

— लो विवेक ! मेरा हाथ थाम लो।

और वह अपनी लम्बी-पतली अंगुलियो के माध्यम से विवेक के हाथों मे अपने को सम्पूर्ण सौप रही थी, जैसे कि विवेक में वह अँगुलियों से दुहती हुई पहुँच रही है।..शख की चूड़ियो से घिरी सोने की चूड़ियाँ विवेक, वानीरा के गोरे हाथों मे घुमाने लगता है। जिस

निश्चिन्तता से वानीरा ने अपना हाथ विवेक को सौप रखा था उसमे वह आप उससे पृथक लग रही थी, फलस्वरूप उस हाथ मे सोने के ठोस वजन का आभास था। हाथ विवेक को सौप वह पीठ टिका घूंट उतार रही होती है। विवेक जानता है कि वानीरा जब सुखी अनुभव कर अपने भीतर चली गयी होती है तब बाहर ऐसे ही घूंट उतारते बैठी रहेगी। वानीरा की वाचा उसकी देह ही है, तभी तो बाहर तो वह मछलियो की भॉति कभी-कभी ही हवा का कोई बुलबुला ऊपर छोडने के लिए दिख भर जाती है पर जब वह सुखी होती है तो किसी गहरे जल के अँधेरे मे बैठकर सन्तुष्ट हो, आंखे मीचे, घूंट उतारती, अपने ही भीतर की आती आवाजो को सुनते हुए खोये रहेगी। अपनी देह के किस जल मे वह है यह कह सकना अभी विवेक को नही आया।

— खिड़की बन्द कर लो वानीरा! आज दिन भर कितना मेघाच्छन्न रहा है और अब तो ठण्ढ भी बढ़ गयी है।

पास में आकर खडे होने वाले विवेक की ओर वह देखती अवश्य है पर जैसे बरज रही हो कि भला ऐसे में भी कुछ बोला जा सकता है? विवेक शाल लाकर उसके कधे ढँक देता है। प्रथम वर्ष-ग्रन्थि के दिन आज वे कैसे-कैसे भटकते रहे है? होटल से लौटकर वानीरा ने स्वयं खूब गाढी खीर बनायी थी। यद्यपि होटल से मठ जाकर आज के दिन बाबा का आशीष लेकर लौटना वानीरा को भारी पड़ गया था। वह एकदम थक गयी थी पर इस समय जाने किस उत्साहवश खिड़की के पास खड़ी है। अभी काफी देर तक बाउल संगीत के रेकार्ड बजाये गये थे, और इस समय कितने मंद पन्नालाल की बॉशी का रेकार्ड चढ़ा खुली खिड़की से जाने कहाँ पार देखते हुए तन्मय है।

—विवेक! क्या फिर कभी अपनी इस देह और आज के इस मन के साथ, आज के इस बचे-खुचे बीत रहे दिन को अनुभव कर सकूँगी?...

यह तो बीतता ही चला जा रहा है विवेक ! जब कि मै इसे अपने में सहेज, बीतने नही देना चाहती ।

खुली खिड़की ने कमरे को एकदम ठण्ढा कर दिया था। कुहरा, अँधेरे कमरे में जाने क्या टटोलता घूम रहा है । वानीरा, खिड़की पार के सघन कुहरे में हाथ बढ़ा देती है और हाथ लगभग भीग उठता है । भीगे हाथ को, वह अपने गाल से सटाये फिर वैसे ही आँखे बन्द किये घूँट उतारती खो जाती है । जाने क्या सोचकर विवेक टार्च लेकर कुहरे मे रोशनी फेकता है और गीला कुहरा भूरा होकर उस रोशनी मे फैला-फैला उभर आता है ।

— यह क्या कर रहे हो ?

— उस क्षण को खोज रहा हूँ वानीरा ! जो कि इस समय कुहरे में लिपटा, बीतते हुए हमें...दुःख दे रहा है ।

दोनो हँस पड़ते है। वानीरा की आँखों से लगता है कि वह लौट आयी है और वह विवेक पर लगभग झुक जाती है ।

लेटे हुए वानीरा हँसने की सीमा वाला मुसकराते हुए विवेक को सुना रही है कि बचपन की बाते वह कैसे आज तक, बल्कि अभी जबकि खिडकी के पास खड़ी थी तब तक, मानती रही है कि समुद्र में अप्सराएँ रहती है । वे अपनी सोनार-तरी में जाने कहाँ-कहाँ घूमती रहती हैं । बड़े ही सुदूर में, किसी एकान्त द्वीप मे वे रहती है । प्राय सपनो मे आकर वे वानीरा से बाते करती है कि ये दिशाएँ अनन्त है । उसी अनन्त के पार अप्सराएँ भी जाना चाहती है जहाँ काल और क्षण समान रूप से अक्षुण्ण है । चूँकि वे समुद्र की वासी है इसलिए ऊपर नही जा सकती है लेकिन जिस दिन समुद्र का सारा जल सूखकर रीत जाएगा वे अप्सराएँ तब वहाँ जा सकेंगी ।...लेकिन वानीरा चाहे तो आज भी जा सकती है ··क्या ऐसा कोई अनन्त है विवेक ? क्या कभी उसे भी ऐसा ही लगता रहा है ?...विवेक, वानीरा के बारे में सदा यह सोचता रहा है कि वह एक दिन अनायास सवेरे समुद्र तट पर बैठा हुआ था और देखते-देखते लहरों ने अपने फेन वाले फनों में से

एक नील शख उगलकर उसके पैरो के पास पटक दिया और वे लहरे लौट गयी। धूप मे वह नीलशख चमक रहा था। जल से ताजे निकले नीलशख को हाथ मे लेकर देखा तो विश्वास न आया, क्योकि वह दक्षिणावर्त शख था। दक्षिणावर्त शख परम सौभाग्यशाली होता है, जो अप्राप्य होता है। और विवेक प्रसन्नता मे चिल्ला पडा — यही तो वानीरा है।

ऐसी दक्षिणावर्त वानीरा की इन बातो का वह क्या उत्तर दे ?

साइरन की आवाज आ रही थी। विवेक चौका, लगा जैसे वह सचमुच कोई स्तवक थामे था जो कि चौकने के कारण गिर पडा। वह मुसकराया लेकिन वह मुसकराहट अपने ही को कड़वी लगी। सिवाय उस कड़वाहट या कसैलेपन को अपने तक ही रखने के वह और क्या कर सकता था ? स्टीमर के नीचे के तल्ले मे एक बार फिर शोर उठा। डैक पर लोग लगभग निश्चिन्त ही थे। कोई कर्नल महाशय अपनी पत्नी की कमर मे हाथ डाले न जाने किस वैयक्तिक बात पर बड़ी प्रदर्शनात्मक मोटी-मोटी-सी हँसी हँसकर लोगो का ध्यान अपनी ओर खेच रहे थे। उनकी उठी हुई मूँछों ने उनके ऊपर के ओठ को कसकर उठा रखा था। अमीनगाँव का किनारा भूरी बालू मे प्रशस्त था। डैक पर से धूप जा चुकी थी। तीसरा प्रहर भी ढल चुका था। इस किनारे पर पाण्डू वाले किनारे की अपेक्षा कुहरे का आभास स्पष्ट था। बाँस का पुल यहाँ भी था पर इस बार वह विह्वलता या प्रतीति न हो सकी। सेतुओं में समानता थी लेकिन क्या तदाकृत हुआ जा सकता था ? पाण्डू की ओर दूरी ने धुँधलाहट उत्पन्न कर दी थी। वैसे

वहाँ के आकाश में किसी इंजिन का धुँआ लम्बा होकर रेंगने लगा था। विवेक अपने को अनावश्यक भावुक होने से रोके हुए था। जो बाते उसे घेर लेना चाहती थीं, वे यही थी कि क्या अब फिर कभी वह यहाँ लौट सकेगा ? यहाँ का यह सारा व्यापार पता नही कब तक ऐसे ही यथावत रहेगा। प्रतिदिन अनवरत ऐसे ही इन दो पारों के बीच स्टीमर आया-जाया करेगा। दृश्य मे, मौसम के अनुरूप यहाँ-वहाँ किंचित परिवर्तन होता रहेगा पर यह ब्रह्मपुत्र नद, ये निर्जन किनारे, ये हरी द्रोणियाँ, बाँस के ये सूने-सूने पुल, केवल यही रहेगे। ये दृश्य है इन्हे कही नही जाना है बल्कि इन्हे तो बस होना है।

विवेक इन सारे विचारो को सस्ती भावुकता कहकर उड़ाये दे रहा था, पर हर क्षण के बीत जाने का दर्द जिसे बरसो सालता है वह व्यक्ति मूलत वृक्षवृत्ति का व्यक्ति होता है। वृक्ष, बिना जड़ जमाये एक दिन भी नही रह सकता है। जब भी उसकी जड उखाडी जाती है तब कैसा ही विशाल पेड़ वह क्यो न हो, देखते-देखते कुछ ही देर में ऐसे मुरझाने लगेगा कि आपको आश्चर्य हो। पत्ती-पत्ती तक मुरझा उठेगी। देखने वाले को दया ही नही बल्कि पश्चाताप होने लगेगा। जब तक दूसरी जगह पूरी तरह स्थापित नही कर दिया जाए तब तक क्या मजाल कि उसे अपने स्वत्व पर भी कुछ विश्वास हो। .. बस यही विवेक है। जब कि प्राय: लोग मेघवृत्ति के होते है। आकाश में होते हुए भी अकाश के प्रति कोई दायित्व नही बल्कि धरती को सीच रहे होते है। बिना जड जमाये या स्थापित हुए ही अपना लोक, सृष्टि लिये चारो ओर घूमते हुए ऐसे निर्द्वन्द्व दिखेगे कि जैसे ये यहाँ आदिकाल से थे और अनन्त काल तक रहेगे। किसी भी देश, काल और परि-स्थिति के प्रति कोई दाय या बोध स्वीकार्य ही नही। स्थान, पात्र या समय बिना किसी बात का विचार किये केवल विचरण करना ही जिनका लक्ष्य होता है। यदि शेष लोगो को भाँति वानीरा भी मेघवृत्ति की है तो क्या बुरा है ? वानीरा प्रत्येक बार विवेक के वृक्ष को चलना सिखाना चाहती है और विवेक हर बार बानीरा के मेघ की जड़ें

जमाना चाहता है। वानीरा को यह बुरा लगता है, लेकिन विवेक की अपनी जड़ तक दर्द करने लगती है। अपने से ही आरभ होकर अपने ही मे समापन होना हे — जीवन के इस नैसर्गिक तर्क को विवेक क्यो कर स्वीकार कर सकता है ?

डैक के जीने पर कालीपद दिखा। वानीरा की पीठ थी इसलिए विवेक बोला,

— चलो, उठो, कालीपद ने सब ठीक कर दिया है।

वानीरा ने किचित चौककर व्यक्त किया कि जैसे वह कही सुदूर मे थी पर विवेक अब जानता है कि ये सब ढग वानीरा ने अपने डिब्रूगढ के जीवन मे अपनी ड्रेसिग टेबल के सामने घंटों खड़े रहकर सितार की रियाज के बदले इन्हे रियाजा है। फिर भी विवेक ने कोमल मुसकराते हुए वानीरा के उठे हाथ को सहारा दिया। वानीरा के उठने मे झरने के उस उठने का बोध होता था जो अपने आस-पास के जल को सचेष्ट समेटकर उठे। जो हो, देखकर गरिमा तो लगती ही थी। विवेक पर चाहे ऐसे उठने का अब प्रभाव न पड़ता हो पर इससे क्या, दूर से देखने वाला तो विवेक नही होता है न ? जब कि हमारा सारा होना किसी अपने विवेक से कही अधिक पर व्यक्ति के लिए होता है। बड़े ही सौजन्यात्मक ढग मे वानीरा आगे होते हुए विवेक से लगभग सटी-सटी सी चलने लगी। पता नही वानीरा का यह सौजन्य विवेक के प्रति था या देखने वालो के प्रति।

अलीपुरद्वार तक दोनो खिडकी के पास बैठे हुए छूटते हुए जंगल, एकान्त बनैली निर्जनता, दुहती हुई पहाडी नदियाँ देखते आये। कभी जगल पास आ जाता तो सब घिरा-घिरा सा लगने-लगता। पहियो की आवाज की अनुगूँज तक सुनायी पड़ जाती कि तभी रेल एक लम्बा मोड़ लेकर खुले मे आ जाती। बडी जल भरी धरती थी। आकाश साफ ही था पर कुहरा घना होने के कारण मोड़ लेती रेल ऐसे लगती कि जैसे वह कुहरे में भटक गयी है और यहाँ-वहाँ रास्ता खोज रही है।... कम्पार्टमेन्ट में विवेक, वानीरा के अतिरिक्त दो और सवारियाँ भी थी। दोनो वृद्ध सज्जन रिटायर्ड लग रहे थे। बडे ही निर्विकार भाव से वे ताश में व्यस्त थे। न उन्हे छूटते दृश्य का दु ख ही साल रहा था और न ही ठण्ढी हवा के तेज झोके। बड़े-बड़े कनटोपो तथा शाल मे लिपटे ताश में डूबे हुए थे। शायद प्रकाश पूरी तरह जा चुका था। आलोक का जो आभास था वह खुलेपन का था।

— काफी पियोगी ?

— हाँ।

स्वल्प सा उत्तर दे वानीरा जिस तरह आत्मस्थ थी, वैसी ही बनी रही। विवेक ने थरमस से काफी निकाल एक प्याले मे वानीरा को दी। वानीरा ने बड़ा नन जैसा मुसकराया और बोली,

— और तुम नही लोगे ?
विवेक थरमस के दूसरे प्याले मे स्वत: ही काफी लेने वाला था परन्तु वानीरा ने पूछकर उसके मर्म को छू लिया। वह मर्म, सन्तोष था। कम्पार्टमेन्ट की निस्तब्धता मे रेल के पहियो की भागती आवाज उभर आयी थी। कुहरे के कारण बहुत दूर तक नही देखा जा सकता था। वैसे अँधेरा और ठण्ढ बढ गये थे पर अभी असहनीय नही हुए थे। वानीरा काफी की गरमाहट न केवल ओठो पर ही बल्कि पलको तक पर अनुभव करते सुखी हो रही थी। थरमस का दूधिया कप हथेली को गरमा रहा था। सहसा दिन भर की यात्रा का ध्यान आते ही वानीरा को न केवल थकान ही लगी किन्तु जमुहाई तक आने लगी।
— तुम अब आराम करो वनीरा !
— और तुम ?
— अभी से तो सो नही सकूँगा।
काफी वाले अपने गरम ओठो को चूसते हुए वह अपने लिए ही मुसकरा रही थी। विवेक ने वानीरा के सोने की सारी तैयारी कर दी। वानीरा के सिरहाने के ओर की खिड़की का शीशा चढा दिया। दोनो सज्जनो की अनुमति से ऊपर की बत्तियाँ बुझा दी। उन लोगो ने अपनी-अपनी घडियाँ देखी और ताश समाप्त कर अपनी सीटो पर पहुँच कर सिरहाने की मद लाइटों को जला कर पत्रिकाएँ पलटना शुरू कर दिया। छत की मद नीली रोशनी से, कमरे में सुखद अँधेरा घिर आया। विवेक उठकर सामने वाली अपनी सीट पर जा बैठा। केवल उसके सिरहाने वाली खिड़की खुली थी। रेल सपाटे मारती असम के जंगलो के बीच से, पग-पग पर पडते पुलो पर धड़धड़ाती, ठण्ढी हवा चीरती बढी जा रही थी। विवेक ने अपनी सीट पर से देखा कि वानीरा पलके बद किये सोयी है। उसके लिए वानीरा की भाँति ऐसे असम्पृक्त हो सो जाना संभव नही था। सहसा इस समय विवेक को वानीरा की नाक की कील जाने क्यो याद हो आयी। वानीरा उसे डिब्रूगढ़ तक काफी दिनों तक पहने रही परन्तु मेजर आनन्द के सम्पर्क

के बाद जो घोषित परिवर्तन सबसे पहला विवेक ने देखा था, तो यही था। विवेक को तब तो नही पर इस समय जाने क्यों हँसी आ गयी। खिडकी की राह वह प्रत्येक क्षण छूट रहे असम को बडी करुणा के साथ देख रहा था परन्तु जो असम उसके भीतर जा बिराजा था क्या वह भी विवेक से छूट रहा था ? या सकेगा ? यह कुहरा, ये वन-कान्तार, ये अगम्य अरण्य, संभवतः यहाँ कम ही छूटे जा रहे थे, पर जो उसके साथ जा रहे हैं उनका वह क्या करेगा ? वह पुरी का ही क्या कर सका है ?

उस रात।

रोज की भाँति ही विवेक उस रात भी घर देर से ही लौटा था।......जैसे-जैसे विवेक की प्रैक्टिस जमती गयी वह अप्रत्याशित ही कई बातों से दूर होता चला गया। पहले तो वह सवेरे दो-तीन घंटों के लिए और शाम को एकाध घंटे के लिए ही डिसपेन्सरी जाता था, पर क्रमशः अब वह सवेरे जल्दी जाने लगा था। उसके पहुँचने के पूर्व ही मरीजों की भीड़ लग जाती थी और फलतः दोपहर में भी लौटते उसे दो तो बज ही जाते थे। कुछ दिनो तक तो वानीरा ने खाने के लिए तीसरे प्रहर तक प्रतीक्षा की लेकिन बाद मे कालीपद खाना लेकर जाने लगा। कुछ दिनों बाद शाम को जब खाना वैसा का वैसा ही लौट आने लगा तो कालीपद का भेजा जाना भी बन्द कर दिया गया। रात मे भी नौ-दस बज जाना तो मामूली बात थी। विवेक को अब चैतन्य-मठ जाने की फुर्सत न होती। कभी वानीरा स्वयं डिसपेन्सरी पहुँच जाती ताकि विवेक को ले जा सके, पर या तो वह

रोगियों से घिरा होता या कही 'काल' पर गया हुआ होता। वह प्रतीक्षा करते ऊब जाती। विवेक अब नही हो जा पाता। उसकी इस विवशता पर आरम्भ मे सहानुभूति, तब खिझलाहट तथा बाद-बाद मे तो वानीरा को क्रोध तक आने लगा और वह बिना समय-कुसमय का ख्याल किये स्वतः मठ चली जाती रही। कभी विवेक मठ पहुँच जाता लेकिन प्रायः तो वह दस-ग्यारह के पूर्व घर नही पहुँच पाता। वानीरा मठ से सीधे घर पहुँच रुँआसी हो अनखाये ही, टूटी सी बिस्तरे पर पड़ जाती। दिन-दिन भर केवल प्रतीक्षा करते हुए वानीरा को अब बहुत कुछ बदला-बदला सा लगने लगा था। वह विगत को गहना चाहती पर वह बिजली सा कौध-कौध सदा दूर ही लगता। वह जाने किन-किन दु स्वप्नो में खोयी होती कि ऐसे ही समय जब दिन भर का थका हारा विवेक घर पहुँचता तो उसे दरवाजे पर जैसे ही कालीपद से सब मालूम होता तो उसे अपने पर न केवल ग्लानि होती पर खीझ हो आती। उसके अनचाहे भी सब कैसी तेजी से बदल रहा था। पहले तो ऐसा लगा करता था कि पूरा दिन फ्रेम है और वानीरा उसके बीच खड़े हुए मुस्करा रही है। और अब, वानीरा...और विवेक एक वार फिर निश्चय करता कि कल से वह जरूर ही आठ नहीं तो नौ बजे तो घर लौट ही आएगा। उसके बाद वानीरा को लेकर घूमने जाया करेगा। कितने दिनो से वे लोग समुद्र-तट पर नही बैठे है। ठीक है खिड़की से समुद्र दिखता है, पर वहाँ जाकर बैठना और बात है और उसे चलते-फिरते खिड़की से देखना अलग बात है। महीनों से बारजे में बैठकर निश्चिन्त मन दोनो ने साथ-साथ चाय नही पी है। दिन भर बेचारी वानीरा को उसकी निरीह प्रतीक्षा करनी पड़ती होगी। कैसी घबराहट होती होगी न?...और विवेक घुलती हुई मिट्टी हो जाता है।

शुरू-शुरू में वानीरा रात की प्रतीक्षा, या तो किताबे पढते हुए या सितार बजाते हुए या घर को सुषमित करते हुए किया करती थी। प्रत्येक क्षण आहट लेने की चेष्टा करती। जब घबरा जाती तो खिड़की

में खडी हो जाती और बिजली के लैम्पों के नीचे आती विवेक की अकेली सभावित आकृति की टोह लेती होती। जब कोई आती आकृति उसे झुठला जाती तो वह लगभग रुँआसी हो जाती। उसे एक ही बात बार-बार घेरती कि क्या अब सदा-सदा के लिए ऐसा ही होना है ?... सारा तट, सडक एक निर्जन सॉय-सॉय वाले सपाटे मे खोया हुआ होता, और वह बुझ जाती।. जिन दिनो आँधियाँ चलती उन दिनो बालू के बगूले तट पर दिन-रात उडा करते। खिड़की खड़ी वानीरा के बालों और मुँह पर बालू ही बालू हो जाती। केवल विह्वल और अन्यमनस्क होने के अतिरिक्त उसके पास क्या रहता ? सितार से चिढ हो जाती। आलमारी मे से किताबे फेक दी जाती। शख-घोघों के रगीन ढेर पर गुस्सा उतारा जाता। मूर्तियों के लिए रखी मिट्टी पर तो आपा ही खो बैठती कि कितना व्यर्थ का कूड़ा-करकट इकट्ठा कर लिया गया है। खुली हुई उलटी रखी पुस्तको को देखकर झल्ला जाती कि पढना न लिखना तब स्वाँग करने से क्या लाभ ? अभी वह शंख, घोंघे खिडकी से फेक रही होती कि प्रायः ऐसे ही समय विवेक के टूटे-टूटे कदमों की आहट बरामदे मे उभरती होती। विवेक की विवश निस्पृहता देख उसके भीतर का उफनाता ज्वार एक दम शांत हो जाता। उसका मन कर आता कि वह क्यो नही लपक कर विवेक के हाथो से बैग ले लेती ? कालीपद बैग सम्हालेगा यह कोई अच्छी बात है ?. .कैसे मुरझ गये है न ? जरूर आज दिन भर विवेक ने कुछ भी नही खाया है। भला ऐसे मे ठण्डा भात-माछ कैसे गले के नीचे उतरेगा ? यह कालीपद क्यों नही सारी चीजे कायदे से रखता है ? लेकिन इसमे कालीपद का क्या दोष ? उसने तो पूछा था पर क्या स्वय वानीरा ने ही राँध कर रख देने का आदेश नही दिया था ? और कभी-कभी तो सचमुच ही वह दौड़कर बैग, स्टेथस्कोप ले लेती जैसे कही कुछ नही हुआ है। सब ऐसे ही यथावत होता है। क्षणान्त मे दोनो ओर की विवशता दोनो ही बूझ ले जाते। कालीपद को गरम पानी करने का कहकर धुला नाइट-सूट निकाल जल्दी से दो-चार लूचियाँ

निकालने बैठ जाती। दिन भर जो घर उपक्षित रहा, वही इतनी रात मे भी खाने की सुगन्ध, चूडियो की खनक और प्रसन्न हड़बडाहट में मुखर लगता। प्रसन्नता की एक सुगन्ध होती है जो, और तो और तौलिये, तकिये के धुलेपन से देखी जा सकती है। 'निर्जन सिकता' में अनेक दिनो बाद ऐसी हलचल ऐसी ही लगने लगती जैसे किसी उपेक्षित विशाल कोठी में भूल से कई दिनो बाद धूप का एक टुकड़ा कुछ देर के लिए भटक कर आ गया हो।

उसके बाद, ऐसी रातो मे बडी देर तक बारजे मे खडे होकर या तो झरती चाँदनी देखी जाती या फिर ग्रामोफोन की धूल झाड कीर्तन, रवीन्द्र-सगीत, रविशंकर, पन्नालाल घोष, बिसमिल्ला सुने जाते। न होता तो ज्वार का उद्घोष ही सुनते रहते। समुद्र बोलता भी है। उसकी भाषा समझने का अभ्यास होना चाहिए और वह विवेक-वानीरा को था। वैष्णव पदो की विह्वलता में तन्मय हुआ जाता। जब वातावरण में साँय-साँय करती हवा किसी पागल डैने सी प्रलाप करती घूमती होती तब अपने भीतर तक कैसा निर्जन लगता है न? ऐसे ही किसी वीरान टूटे क्षण मे बडे ही पश्चाताप मे सिक्त विवेक कहता होता,

—वानीरा! सच मानो, मै कितना चाहता हूँ कि सब कुछ पहले जैसा ही हो, पर क्या करूँ।

वानीरा को ऐसे में बरजना बड़ा ही सुहाता। ऐसे तन्मय के क्षण मे पश्चाताप करता विवेक, वह नही देख सकती,

— मै तुम्हारी व्यस्तता और विवशता दोनों ही बूझती हूँ विवेक!... अपने पर झल्लाहट भी होती है। तुम लोकप्रिय हो रहे हो। तुम्हारा नाम होता जा रहा है। पर, जब मैं अपने से छिन्न हुआ तुम्हे पाती हूँ तो एक दम टूट जाती हूँ विवेक! .. क्या कभी सोच सकते हो कि दिन, हफ्तों, महीनों हो जाते हैं रोज-रोज कैसी लम्बी प्रतीक्षा करनी होती है मुझे? तुम्हें देखे कई-कई दिन हो जाते है। सवेरे जब जागती हूँ तो उस समय तक तुम सड़क पर जा चुके होते हो। केवल तुम्हारी पीठ देखती खिड़की मे खड़ी रहती

हूँ।.. रात मे कब लौटते हो पता ही नही चलता है। हाँ, जब कभी औचक नीद खुल जाती है और तुम्हे निर्विकार सोये देखती हूँ तो मन कैसा उदास हो जाता है विवेक ! लगता है कि एक अगम्य सिधु हमारे दो एकान्तो के बीच आ खड़ा हुआ है।

और वानीरा, सम्पूर्ण कसी, रागवती झनझनाती सितार बनो बजती ही चली जाती।.. विवेक उसे बाहुओ मे समेट लेता और फिर सब परितृप्त गधमय हो उठता।

दूसरे दिन कैसे प्रसन्न मन से विवेक की कमीज की कालर तक उलट कर देख ली जाती कि कही फटी तो नही है ? टूटा बटन बदला जाता। हर पत्नी को अपने पति के बाद यदि किसी से वास्तविक असन्तोष होता है तो वह धोबी से होता है। तार से भी बटन अगर टाँका गया है तब भी धोबी का ही यह कमाल होगा कि वह अगली धुलाई मे ही टूटा मिल जाएगा। और गृहस्थी का ऐसा दिन, कैसा यू-डी-कोलोन की भीनी गंध सा लगता है जो अपनी सारी कोमल धूप के साथ सारी चीजो, सम्बन्धो और स्मृतियो पर फैल जाता है। बड़ा ही गध-दिन होता है, ऐसा गृहस्थी का दिन। दरवाजे पर विवेक को जाने से एक क्षण रोक कर ढीली टाई को वानीरा कस देती जिसे विवेक दिर भर अपने गले के पास अनुभव करता होता। अपने द्वारा तैयार किये गये विवेक को खिडकी खडी वानीरा कैसी तृप्ति से दूर, देर तक देखती रहती। पश्चिम ओर स्टेशन की तरफ इजिन का धुँआ झब्बे में उठ रहा होता। हरे पेडो की पृष्ठभूमि, बाँसो की चिलबिलाती गुच्छलता, नारियल के पत्तो की थरथराती नोको के ऊपर आकाश नीली झील सा फैला होता। और सिकता मे ताजे घोघे-शंख बीनने वह बड़े सुखी मन से नगे पैरो ही निकल पड़ती। पैरों मे बालू कैसी गुदगुदी करती होती।

दिन भर विवेक का कमरा व्यवस्थित किया जाता। अधबनी बंधछवियो की प्रतिकृतियो को सहेज दिया जाता। बनी हुई मूर्तियो को अपनी देखरेख मे धूप में सुखाया जाता। मोढ़ा डाल, कोई पत्रिका पढ़ते हुए भी ध्यान रहता कि सूखती मूर्तियाँ कही तिड़क न जाएँ इस-

लिए वह वही समग्र बनी रहती। आलिंगन और मैथुन में रत छवियाँ अनवरत देखते रहने पर सजीव लगने लगती। उनमे जैसे प्रतिष्ठा हो जाती और . और वे बंधछवियाँ सामने की सिकता मे दौडने भी लगती। लगता कि उनमे से कुछ तद्वत समुद्र मे नहा भी रही है। उसका मन जाने किस काम-भाव से स्फूर्त हो उठता। वह भी अपनी देह में से निकल जैसे विवेक के साथ बधछवि बनी सिकता पर टहलती एक मूर्ति है। उद्दाम आवेग उसे घेर लेता . और तभी कोई मूर्ति चिटख उठती। अपराध-भाव उसे घेर लेता कि कितने मनोयोग से रातो जागकर विवेक इन्हे बनाता रहा है। कई बार तो वह भी किसी प्रतिकृति की कागज पर ट्रेसिंग करती रही है और विवेक मूर्तियो के सभी अंगो को मिट्टी मे स्वरूपित करता रहा है। उन्ही अँगुलियो को अपनी देह पर अनचक्के दिन-दिन भर अनुभव करती रही है जैसे वे अँगुलियाँ उसके अगो को भी स्वरूपित करना चाहती है कैसी लाज लगती है। मूर्ति बन जाने पर प्राय: विवेक जिस तरह वानीरा की ओर देखता उसमे तो वह आद्यन्त निर्वसन ही हो जाती। पुरुष की ऐसी ही दृष्टि का साक्षात तो नारी के लिए कठिन होता है। और शाम झुकते-झुकते तक दिन भर का वह उल्लास मुरझायी सूरजमुखी हो जाता। कैसा एकान्त, केवल प्रतीक्षा, असग मौन का खाली-खाली वातावरण लेकिन क्यो ? किस लिए ? अपने चारों ओर क्रमशः बढ़ती इस रिक्तता को वह किस चीज से और क्या कह कर भरे ? समुद्र देखते रहने से ? मन्दिर के विशाल प्रागण को तथा उसके बाहरी शिखर-प्राचीरों मे अकित बधछवियों को देखते रहने से ? रथजात्रा की स्मृति से ? रवीन्द्र सगीत से ? क्या मन का निभृत एकाकीपन तथा सूनी निविड़ता वैष्णव पदो की तल्लीनता से दूर की जा सकती है ? क्या वानीरा कर सकेगी ? क्या चीजे अभाव की पूर्ति कर देती है ? और वह भी कैसा अभाव ? जो वानीरा को भीतर ही भीतर खोखला कर रहा है। ऐसे कितने दिन वह अखोखल होने से बच सकती है ?

उस रात।

हाँ, उस रात भी रोज की भाँति विवेक देर से लौटा था। चारों ओर निःशब्दता थी। कालीपद ने नियमतः सारा काम कर दिया था। खा-पीकर विवेक अपने कमरे में आया। जाने कितने दिनों से 'अन्ना केरेनिना' टेबल पर उल्टी रखी हुई थी। एक दिन जल्दी में किताब उलटी रह गयी थी तब से वह ऐसी ही पड़ी थी। मूर्तियों पर खासी धूल जमा हो गयी थी। जरूरी चिट्ठियो के अलावा डाक्टरी की अनेक पत्रिकाओ और पेम्फलेट्स के रैपर तक फाड़ने की कभी नौबत नही आयी। जाने कैसे एक दिन टाई निकालकर कुर्सी की पीठ पर टाँग दी गयी थी तब से वह भी वैसे ही उपेक्षित पड़ी थी। शेल्फ में कई किताबे उलटी ही रखी हुई थी।

विवेक को अपने भीतर तक बड़ा ही कसैला-कसैला सा लगने लगा। कमरा भी काफी घुटा सा हो रहा था जैसे कई दिनों से खोला ही नही गया हो। इस तरह की गंध और धूल के प्रति विवेक बचपन से सजग रहा है। खूब धूप, खूब हवा से जैसे व्यक्ति अपने भीतर तक ताजगी अनुभव करता है वैसे ही चीजें भी करती है।... वह उठा और उसने खिड़की खोल दी। कई दिनों के बाद अपने पहले बोध पर ही आश्चर्य हुआ कि अरे, आकाश भी है?...वैसे वह सोचना तो यही चाहता था कि अरे, अब तक आकाश है? पर ऐसा सोचना हास्यास्पद हो जाता। साथ ही उसे बडा अच्छा लगा कि आकाश न केवल आकाश ही है पर निरभ्र भी है, बिल्कुल आँख की भाँति स्वच्छ था। वातावरण भी धुला हुआ था। तारे कैसे मँजे हुए चमक रहे थे। हवा तो बिल्कुल गौरैया की भाँति छोटी-छोटी फुदक रही थी। कुछ ही देर में कमरे मे ताजापन लगने लगा। थकान और नीद उसे स्पष्ट थी। पर रोज की एकरसता से सर्वथा भिन्न इस समय सब कुछ था इसलिए उसे अपने भीतर तक प्रसन्नता अनुभव वैसे ही हो रही थी जैसे कि फूल को होती है। बिना अन्तर तक प्रसन्न हुए कोई फूल नही बन सकता। अपनी इस अकेली प्रसन्नता को वह 'अन्ना केरेनिना' पढ़ते हुए

भोग भी रहा था ।...तभी कालीपद ने बताया कि होटल मेनेजर भट्टाचार्य बाबू किसी रोगी के लिए डाक्टर साहब को बुलाने आये है । बाहर दरवाजे पर खडे भट्टाचार्य बाबू ने बताया कि उनके चार नंबर के कमरे मे असम के चाबगान के एक अँग्रेज मालिक मिस्टर क्लाइड ठहरे है, उनकी तबीयत सहसा खराब हो गयी है इसलिए विवेक का चलना आवश्यक है । शायद 'ब्लड-प्रेशर' की तकलीफ है ।

और मिस्टर क्लाइड का उपचार आदि कर वह सीधे घर न जाकर सामने की एक बेंच पर बैठ कर आधी रात को समुद्र दर्शन करता बैठा रहा । आज उसे बड़ा अच्छा लगा । उसे वे दिन याद आ गये जब वानीरा को लेकर वह यहाँ प्रायः आता रहा है । सहसा उसे लगा कि यदि वानीरा भी इस समय यहाँ होती, तो ?...और फिर बड़ा अजीब मन हो गया । कितना बदल रहा था सब । वह इस बारे मे अधिक नही सोचना चाहता था इसलिए उठ पड़ा । सप्तर्षि बिलकुल क्षितिज पर टिके लग रहे थे । बडा विराट मौन आकाश से धरती पर बरस रहा था और धरती उसे उसी गरिमा के साथ धार भी रही थी ।

सवेरे चाय पर जब वानीरा को भी आज देखा तो उसे बडा अच्छा लगा । अन्य दिनों की अपेक्षा वानीरा आज कई दिनो बाद स्नान किये तैयार थी । फैले बालों में विवेक ने उसे महीनो बाद देखा था, जैसे वह कोई मित्र की पत्नी हो और सौजन्यवश चाय की टेबल पर साथ है । वैसे गीले फैले बालो मे वानीरा कैसी धुली-धुली सी पारिवारिक लग रही थी । वानीरा का चाय बनाना विवेक को बहुत ही अच्छा लग रहा था ।

— वानीरा ! रात एक बडा मनोरंजक केस आ गया । केस से अधिक पेशन्ट मनोरंजक है ।

— हाँ, रात तुम्हारे जाने की आहट से मै जाग गयी थी । कालीपद

ने बताया कि तब तक तुम सोये नही थे कि तभी भट्टाचार्य बाबू आये थे बुलाने ।

सादा सा वाक्य भी वानीरा ने कुछ इस ढंग से कहा कि दोनों फिर निकट हो गये थे । विवशता बूझ ली गयी । लेकिन चूँकि वानीरा को नैकट्य और दूरी के अब 'फिट्स' आने लगे थे इसलिए विवेक ने ध्यान देते तथा समझते हुए भी लक्षित उपेक्षा ही की ।

टोस्ट पर मक्खन लगाते हुए वानीरा ने पूछा,

— किसका केस था ?

— एक मिस्टर क्लाइड है । असम मे उनका चाबगान है । ब्लड-प्रेशर बढ़ गया था ।

कई महीनों के बाद इस समय विवेक घर मे बैठा हुआ चाय पी रहा था । सहसा हाथघड़ी देखी और साढे आठ देखा तो चौका । बिना किसी पूर्व भूमिका के वह हठात उठा और डिस्पेन्सरी के लिए बैग, स्टेथस्कोप लेकर निकल पड़ा । वानीरा का अवाक रह जाना सहज था । केवल वह अन्यमनस्क बनी पहले तो बरामदे मे जाते विवेक को देखती रही, उपरान्त उसकी छाया को ।

मिस्टर क्लाइड अत्यन्त खुले मन तथा बड़े ही खुले हाथ का व्यक्ति था । छह फीट का गोरा कद्दावर यह अंग्रेज, दूसरे अंग्रेजों से किंचित भिन्न था भी और नही भी । गत बीस बरसो से वह असम के जंगलों मे ही रह रहा था । उसका अपना चाबगान बहुत बड़ा नही था लेकिन पूर्वी असम के सबसे अच्छे चाबगानों में था । उसे अपने चाबगान की पत्तियो पर वैसा ही गर्व था जैसा कि उसे अपने गोरे

होने पर था। यद्यपि स्पष्टतः कभी यह व्यक्त नही होने देता था। न केवल वह विधुर ही था बल्कि नि सतान भी। शिकार, हाथी की सवारी, मछलियाँ पालना उसके बडे व्यसन थे। छोटे व्यसन जिन्हे प्रायः शौक कहा जाता है उसमें ताश खेलने से लेकर सभी चर्चाओं मे उसकी रुचि थी। लेकिन सबसे अधिक उसे शराब की चर्चा ही प्रिय थी। वह चर्चा ही नही वजन तक मे बीयर की बोतल को औरत से ज्यादा वजनी मानता था। वैसे भारतीय सगीत मे उसकी रुचि, गति की सीमा तक कही जा सकती थी। बँगला और असमिया भाषाएँ वह अच्छी ही जानता था। कुल मिलाकर सार्वजनिक व्यक्ति के लिए जितने भी गुण अपेक्षित होते है उनमे मिस्टर क्लाइड निपुण थे। क्लाइड के जीवन की एक मात्र कामना यह थी कि वह शराबो के इतिहास पर अविस्मरणीय ग्रन्थ लिखकर ही मरना चाहता था। — ऐसा व्यक्ति चाय या खाने की टेबल का काफी मनोरजक साथी हो सकता था, जो कि वह था। विवेक को बाद मे डिब्रूगढ़ मे किसी ने बताया था कि क्लाइड शिकारी से अधिक अच्छा तो उसका वर्णनकार है। उसके कुल व्यवहार मे बडी ही आवेशहीनता थी।

अपनी तबीयत ठीक होने की प्रसन्नता में उसने विवेक को सपत्नीक खाने का निमंत्रण दे डाला। जब विवेक ने इस आमत्रण की बात वानीरा को बतायी तो वह सहमत नहीं हुई। इस पर मिस्टर क्लाइड विवेक के साथ उनके घर पहुँच गये। जिस कृतज्ञता की भावनावश क्लाइड इन दोनो को आमंत्रित कर रहा था उसे जानकर वानीरा ने हाँ भर दी।

और जिस शाम विवेक-वानीरा को खाने पर जाना था उस शाम विवेक बड़ी अनिच्छा के साथ घर जल्द ही लौट आया। जब उसने वानीरा को सोत्साह, सुरुचिपूर्ण तैयार देखा तो उसे आश्चर्य से अधिक प्रसन्नता हुई। अपने लिए भी जब उसने शांतीपुरी धोती मे चुन्नट तथा रूमाल मे यू० डी० कोलोन की गंध तक देखी तो उसे लगा कि विवाह के आरभिक दिनों में पति-पत्नी के बीच ऐसी ही तो

गंध का व्यवहार रहता है। और वे दोनो महीनो बाद कही साथ-साथ किसी आमत्रण या पूर्व नियोजित कार्यक्रम के लिए जा रहे थे।

खाने के पूरे वक्त क्लाइड शिकार सबधी अपने रोचक, रोमाचक तथा मनोरजक अनुभव, विवरण आदि सुनाता रहा और वानीरा सोत्साह सारी बाते सुनती रही। गत महीनो मे वानीरा के चेहरे पर जो एक तनाव सदा रहा करता था और जिसके कारण वह किंचित कठोर के साथ-साथ थोड़ी बड़ी लगने लगी थी, वही क्लाइड की बाते सुनकर कैसी खुल आयी थी। महीनो से विवेक ने वानीरा का ऐसा मसृण-मुख नही देखा था। अन्तर का सुख ही सौन्दर्य होता है। विवेक चाहने लगा कि यदि सभव होता तो—ऐसे ही क्लाइड के सामने बैठाल कर वानीरा को सुखी होने देता। अक्तूबर का महीना था। बड़ा गुलाबी जाड़ा था। तीनो बाल्कनी मे निकल आये। बैरा ने काफी लगा दी थी। क्लाइड ने बताया कि वह यहाँ जनवरी तक रुकेगा। वह अपने तईं पुरी घूम चुका है पर अगर विवेक-वानीरा उसका थोड़ा साथ दे तो वह अपनी इस पुरी यात्रा को चिर-स्मरणीय बना सकेगा।

रात काफी जा चुकी थी। विवेक ने उठना ठीक समझा। जैसी कि उसे आशा थी कि चलने के नाम से वानीरा चौकेगी, और हुआ भी वही।

—चलो वानीरा ! अब काफी देर हो रही है।

—अरे ? हाँ, अब चला जाए।

—अच्छा, मिस्टर क्लाइड ! आज के इस आमत्रण के लिए हम दोनो का धन्यवाद स्वीकारे।

क्लाइड अपना पाइप पी रहा था बोला,

—हाँ, देर तो खासी हो गयी है। यदि आप लोगों को आपके घर तक छोड आऊँ तो थोडा टहलना ही हो जाएगा।

आश्विन की पंचमी का चद्रमा आधा डूब चुका था। चाँदनी का कोमल आभास वातावरण में था। सागर का घोष भी रोज की अपेक्षा

आज अधिक शांत लग रहा था। वैसे सुदूर एकान्त में खड़ी उनकी काटेज 'निर्जन सिकता' बोधित थी। कई दिनो बाद निश्चिन्त मन से उत्सव उपरान्त के बाद का सुखी मन लिये विवेक-वानीरा दोनों ही को सुख हो रहा था। बालू पर लहरे कूड़ा-करकट छोड़ गयी थी जो इस आलोक-आँधार मे कैसे परिचित जैसे लग रहे थे। रास्ते भर लगभग मौन ही बना रहा, केवल वानीरा क्लाइड के पाइप की तेज गंध को अनुभव करती रही। उसे तम्बाकू की गध भली ही लगी। बातों ही बातों में क्लाइड कह गया कि यदि अन्यथा न लिया जाए और विशेष असुविधा न हो तो कभी असम देखने दोनों अवश्य आएँ।

दरवाजे पर पहुँच जब क्लाइड ने बिदा माँगी तो दोनो ने भीतर तक चलने का अनुरोध किया पर वह किसी अन्य दिन के लिए कह कर चला गया। जाती हुई चाँदनी के मद प्रकाश मे सड़क कितनी अच्छी लग रही थी तथा उस पर अकेला जाता हुआ क्लाइड, आकार लग रहा था।...वानीरा को आज शाम इतना ही अच्छा लगा जैसे वह कई दिनों से बीमार थी और बडे दिनों बाद जी भर कर नहायी हो। कैसा रोम-रोम खुल आया था।

वैसे तो विवेक की प्रेक्टिस अच्छी चल निकली थी। चारो ओर ख्याति थी पर इससे उसकी आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। कारण कि पुरी जैसी छोटी जगह मे जहाँ कि धार्मिक यात्री दो चार दिनों के लिए ही आते हैं और चले जाते है कभी भी उन पर निर्भर नही रहा जा सकता था। या इनके अलावा जो छोटे-मोटे सेठ-साहूकार, अवकाश प्राप्त बूढे, विधवाएँ, पण्डे-पुजारी आदि है उनके लिए वैद्यों, औषधा-लयो के अतिरिक्त दो-चार पुराने डाक्टर ही काफी थे। अतएव निम्न-वर्ग मे ही विवेक प्रविष्ट हो सका और जहाँ उसकी ख्याति थी। ख्याति का कारण दवा का सस्ता होना था। अतिरिक्त इसके और कुछ

संभव भी क्या था ? जिन्हे एक जून चावल भी समस्या था उनसे दवा की लागत तक माँगना विवेक को अन्याय पूर्ण ही नही बल्कि अमानवीय लगता था। इसलिए निम्न-वर्ग के पास जो था वह उसे अटूट प्राप्त था और वह थी श्रद्धा। विवेक उन लोगो के लिए डाक्टर से अधिक देवता था। दूर-दूर से लोग आते और विवेक नदियों-महानदियो को नावो से पार करता, वर्षा से भीगता, दलदल अँधेरे से जूझता, रात-बेरात, मौसम-बेमौसम, सूखे में, बाढ़ में रोगियो की सुश्रुषा करता घूमता रहता। बदले में फीस तो दूर, अपने पास से दवाई तक देनी पड़ जाती। जहाँ जाता उसे लोगो की पीड़ित जल भरी आँखे, संतप्त गृहस्थी और हाहाकार करती परिस्थिति का ही सामना करना पड़ता।... लेकिन विवेक को इससे कोई असन्तोष नही था, वरन सन्तोष था। पर वानीरा की समझ में नही आ सका कि जो डाक्टर इतना लोकप्रिय हो भला उसकी आय में वृद्धि न हो। विवेक ने डिसपेन्सरी खोली है, न कि धर्मादाखाता। कई बार विवेक वानीरा से अपनी यह दुरभिसन्धि बता चुका है। शुरू-शुरू मे तो वह भी लोगों की विपन्नता पर विगलित होती रही है पर अब जैसे वह इसे समझना ही नही चाहती थी। चूँकि पहले वानीरा, न केवल विवेक की दृष्टि से ही बल्कि उसी की आँख से भी देखने की अभ्यस्त थी पर अब स्वयं उसकी अपनी आँख और दृष्टि दोनो ही हो गयी थी इसलिए स्वत्व अनुभव होना स्वाभाविक था। उसे अब लगने लगा कि अब तक वह जीवन के कितने बड़े तथ्य के प्रति उदासीन थी।...लोग है, सुख-सुविधाओ वाली गृहस्थियाँ हैं। वैभव की एक चमक होती है जिसे अस्वीकारा नही जा सकता तथा इन सबमे सर्वोपरि है, भोग। बिना भोगे तो यह धूप, आकाश, घर, गृहस्थी सब व्यर्थ है। जिस प्रकार अनभोगी नारी किसी अर्थ की नही वैसे ही अनभोगा पुरुषार्थ नपुसकता है।

उस दिन खाने के बाद विवेक-वानीरा ने औपचारिकता की दृष्टि से क्लाइड को अपने यहाँ चाय पर न्यौता दिया। बड़ा अच्छा लगा। इस प्रकार के चाय-पान एक दूसरे को प्रतिनिकट होने के अवसर देते है।

वांनीरा खुली तो बस फिर सगीत पर ही रुकी। जिस दिन उसने गाया तो क्लाइड कैसे तन्मय होकर सुनता रहा था। वानीरा ने क्लाइड मे अपना एक वास्तविक प्रशसक पाया।.. और जब आये दिन ऐसे आयोजन हो तो व्यक्ति बडी ही नेसर्गिकता से निकट होते जाते है।

क्लाइड को भात-माछ का शौकीन देख वानीरा ने आमन्त्रित कर दिया तो क्या विवेक अस्वीकार देता? जब कि वह जानता है कि मछलियों को जितने प्रकारो मे प्रस्तुत करना वानीरा को आता है उतना कम ही लोगो को आता होगा। ..प्राय· इस तरह के आयोजन निश्चिन्तता के वातावरण मे होते और व्यस्त डाक्टर विवेक विश्वास एक सीमा के बाद ज्यादा नही बैठ पाता क्योकि उसे कही न कही, किसी न किसी सीरियस केस को देखने जाना ही होता।

क्लाइड अभी भात-माछ की प्रशसा ही कर रहा था कि विवेक को उठता देखा तो वह भी उठा इस पर विवेक बोला,

— अरे मिस्टर क्लाइड! आप बैठिए। वानीरा तो है ही।

— कोई बात नही, फिर कभी सही।

विवेक को वास्तव में क्लाइड का इस प्रकार हठात उठ जाना बुरा ही लगा, इसलिए विवेक ने काफी आग्रह किया और वानीरा से अनुरोध किया कि वह क्लाइड को ऐसे ही न चला जाने दे, कहकर विवेक चला गया। वैसे वानीरा को विवेक का ऐसे चला जाना अच्छा तो नही लगा पर उसकी बाध्यता भी विदित ही थी।

क्लाइड से वह अब तक काफी परिचित हो गयी थी पर अब तक प्राय. विवेक साथ मे रहा है, और आज इस प्रकार अपने ही घर मे, विवेक की अनुपस्थिति में तथा वह भी निष्प्रयोजन अपने को नितान्त एकाकी देख वह कुछ समझ नहीं पा रही थी कि करे तो क्या करे?

बहुत बुरा लगा, यह कहना गलत होता, संभवतः मात्र असुविधा ही हो रही थी। विवेक था तो माध्यम था और बिना माध्यम के तो बडा सौप देने जैसा लगता है न ?

और वह क्लाइड को काटेज दिखाने लगी, सभवतः घोषित रूप मे। वानीरा को इसी दिन लगा कि वे लोग कितने साधारण ढंग से रहते है। कहने को सोफा है, चेस्टर ड्रावर्स भी है। ड्रेसिग टेबल कैसी अठारहवी शताब्दी की है। पर्दे है तो कारपेट नही। यहाँ देखकर कोई कह सकता है कि कालीन नाम की चीज का आविष्कार हुए कई सदियाँ बीत गयी है ? अच्छी तरह रहने का एक सौन्दर्य होता है। सब बड़ा ही सार्थक लगता है। चीजे हमे पूर्ण बनाती है। क्लाइड का होटल का कमरा देखकर ही कैसे जल का मीठापन सा लगता है और एक विवेक का यह कमरा है।

क्लाइड मूर्तियो के पास खड़ा ध्यान से देख रहा था, बोला,

— अरे डाक्टर विश्वास तो मूर्तियाँ भी बनाते है।

— हाँ ऽ ऽ बनाते क्या हैं, कहना चाहिए बनाते थे।

वानीरा को अपेक्षा थी कि कम से कम क्लाइड सप्रश्न देखेगा ही। जब कि वानीरा के वाक्य में स्पष्टतः और भी पूछे जाने का निहित आमत्रण था, दर्द भरा। परन्तु क्लाइड ने जान-बूझकर अपने को बंधछवियो में ही व्यस्त रखा। वैसे वह वानीरा के वाक्य को उसके सम्पूर्ण में सुन ले गया था।

एक छवि को उठाते हुए बोला,

— यह बहुत रेयर पीस है न ? बिल्कुल औरिजनल लगती है।

और वानीरा की ओर देखते हुए फिर बोला,

— आपको तो संगीत से ही छुट्टी नहीं मिल पाती होगी कि आप भी मूर्तियाँ बनाएँ ?

इस बार वानीरा ने जान-बूझकर उत्तर नही दिया। वह समुद्री हवा में हिलते पर्दे को देख रही थी। बाहर बड़ा सुहाना छायातप लग रहा था।

— जिस दिन डाक्टर विश्वास के पास समय हो तब ग्रापका सगीत
 सुना जाए ।

वानीरा क्लाइड की बात पर हँसना चाह रही थी पर उसे लगा कि यह तो क्लाइड के निकट ग्रौर ग्रधिक खुल जाना होगा ।

एक रगीन शख दिखाते हुए पूछा,

— यह कैसा लगता है ग्रापको ?

— इसके ग्रच्छे न लगने का प्रश्न ही नही खडा होता ।

— तो ग्राप इसे हमारी ग्रोर से तुच्छ भेट समझे ।

क्लाइड 'हमारी' पर सोचने लगा कि इसमे विवेक भी सम्मिलित है ? पर कैसे ?

— क्या ग्राप नही सोचती कि जितने का मै पात्र हूँ उससे यह
 कही ग्रधिक है ?

वानीरा इस बार ग्रपने को हँसने से न रोक सकी। बोली,

— यह प्रश्न तो देने वाले को होना चाहिए, न कि लेने वाले को
 मिस्टर क्लाइड !...मेरी ग्रोर से प्रश्न करने के लिए धन्यवाद ।

क्लाइड भी हँस पड़ा । यद्यपि वह जानता था कि इस प्रकार के दो का वर्तालाप प्राय शतरंज होता है ।.. काफी देर हो चली थी। क्लाइड ने चलते समय खाने की पुन. प्रशसा की तथा विशेष रूप से काटेज की सुषमा की । पता नही क्यो शंख की प्रशंसा या उसके लिए ग्रौपचारिक धन्यवाद को वह स्पष्ट रूप से बचा ले गया ।

एक रविवार को क्लाइड इन दोनो को कोणार्क पकड़ ले गया । लौटते मे सब खूब भीग गये पर बहुत ग्रच्छा लगा। किसी दिन मछलियाँ पकड़ने का पूरा तामझाम लिये तीनो एकान्त समुद्री तट पर चले गये। ग्राये दिन एक न एक कार्यक्रम बनता पर विवेक के लिए सब में योग दे सकना संभव न हो पाता। पर उसे ग्रच्छा लगता कि कितनी जल्दी,

कुछ दिनो मे ही वानीरा में काफी परिवर्तन आ गया था। उसके मुख पर जो एक तनाव ग्रा गया था, जिसके कारण उसकी ग्राँखों के नीचे हलकी झाँई ग्रा चली थी, फलस्वरूप वह किंचित बडी-बड़ी सी लगने लगी थी, वह ग्रब दूर हो गयी थी। वह ग्रब फिर फाल्गुनी फूल सी धूप भरी खिली-खिली लगने लगी थी। वानीरा बडी सजीव एव मुखर लगने लगी थी जैसे रोज बजाये जाने वाली सितार हो। यद्यपि ग्रब भी विशेष बोलने ग्रादि की ग्रावाजे तो नही हो गयी थी, पर ग्रनजाने ही घर के सदस्यो की प्रसन्नता से, उनके न बोलने पर भी बड़ी मुखरता उस शाति में भी लगती। प्रसन्नता स्वय मे एक शब्द तो होती ही है। ..विवेक भी ग्रब जब घर उसी तरह देर रात में लौटता तो वानीरा प्राय: जागती मिलती। व्यवहार मे भी मुसकराहट ही रहती चाहे वह पानी का गिलास दिया जाना हो या मात्र कोई सामाजिक सूचना ही हो। उसे लेकर, उसकी चीजो को लेकर जैसे ग्रब कोई बराबर सचेष्ट है यह विवेक को हर क्षरण ग्रनुभव होने लगा। वह कही न कही मिस्टर क्लाइड का ग्राभार ग्रनुभव करता। उसके जीवन में भी ग्रब व्यवस्था फिर ग्रा गयी थी। उसने फिर से ग्रपनी बधछवियों का काम ग्रारंभ कर दिया था। ऐसे मे नियमत: वानीरा पास बैठी होती ग्रौर बुनती रहती। विवेक को हमेशा यह लगा है कि इसी तरह स्त्रियाँ यदि बुनती चली गयी तो एक दिन इस पूरी धरती के लिए स्वेटर तैयार हो जाएगा। वानीरा सलाइयाँ चलाते हुए बडे ही सहज एवं हठात ग्राश्चर्य से बता जाती कि ग्राज क्लाइड से कहाँ ग्रौर कैसे भेट हो गयी थी। . क्लाइड ने ग्रागामी रविवार को समुद्र स्नान के लिए ग्रामन्त्रित किया है कल शाम क्लाइड ने खाने पर बुलाया है, याद है न ? जल्द ग्रा जाना। — क्या बताऊँ विवेक ! वह तो समुद्र देखते ही बिलकुल मछली बन जाता है, कित्ता निडर है कि ।. ग्राज मै लाख मना करती रही ग्रौर मुझे उसने लहरों मे एक तरह से फेक दिया पर ...सच मानो समुद्र नहाना ग्रा गया। .तुम क्या सोचते हो कि क्लाइड ने सचमुच ही बीस शेरों का शिकार किया होगा ?

और विवेक प्राय इस नरह की बातो पर नि श्चेष्ट, अस्पष्ट ही रहता। उसे तो यही लगना है कि दिन-दिन भर घर मे बैठ प्रतीक्षा की उकताहट के बजाय अब वानीरा घूम आती है। बालू मे लेटे हुए विवेक अपनी देह सुखाता देखता रहता है कि क्लाइड और वानीरा कैसे समुद्र की गरजती, हिल्लोलती, नीली पृष्ठभूमि मे पेसिल की दो रेखाओ से प्रसन्न नहा रहे हैं। और एक दिन विवेक के जन्मदिन पर क्लाइड ने जब दोनो के लिए 'बेदिंग-सूट्स' का उपहार दिया तो विवेक उसकी सदाशयता के प्रति नमित हुए बिना न रह सका। 'बेदिंग-सूट' न पहनने की बात विवेक से अधिक वानीरा कहती रही लेकिन एक बार नहाते मे जब वह अपनी साडी में काफी उलझ गयी तो उसे भी तब पहनना पड़ा। 'बेदिग-सूट' पहन कर पहले दिन स्वय अपने को शीशे में कई बार देखा तो हर बार जाने कैसी अवसनहीनता लगी। जाने कैसा सिमटा-सिमटापन भी लगा। पर जब पहनने, न पहनने का निर्णय स्वयं न कर सकी तो विवेक को दिखाते हुए पूछा। विवेक चाहता हो रहा कि वह इसे पहनने से वानीरा को बरज दे, पर बरजते जाने कैसा लग रहा था। वैसे भले बुरे का प्रश्न नही था। पर बस, जाने क्यो, वैसे ही वह बरजना चाहता था। लेकिन मात्र वैसे ही कोई बरज सका है जो विवेक ही बरज पाता? और जिस दिन पहली बार 'बेदिग-सूट' पहन कर वानीरा नहायी तो वह बहुत प्रसन्न एव उन्मुक्त लग रही थी। क्लाइड ने वानीरा को इस पर बधाई भी दी थी। विवेक पैरों के नीचे से खिसकती बालू की सुरसुराहट तथा हिल्लोलते समुद्री जल की प्रभुता एव सत्ता को सीने पर अनुभव करता केवल मौन खड़ा था।

मन्दिर के गोपुर के सामने मूर्तियों और वर्तनवालो की दूकानो के पास विवेक की डिसपेन्सरी है। जब कभी क्लाइड और वानीरा मन्दिर

गये होते या वानीरा, क्लाइड को यहाँ की परम्परागत चीजे, बर्तन आदि खरीदवाने गयी होती तो ये दोनो डिसपेसरी भी जा पहुँचते। विवेक देखता कि वानीरा कभी जरी, पाट मे होती तो कभी शांतीपुरी मे। प्राय अपनी डिसपेसरी मे बैठे हुए वानीरा की ताजी अलक्तक रंगी एड़ियाँ बहुत देर तक उसके मन मे घुमड़ती रहती। सभवतः वह अब ऐसे घुमड़ते हुए अनेक दृश्यो, स्थितियो का अभ्यासी हो चला था। रथजात्रा वाले मैदान मे जाते हुए यात्रिको भूषा वाले क्लाइड और सम्पूर्ण नारी बनी वानीरा को देखकर उसे लगता कि नारी यात्रा है और पुरुष यात्री।

एक दिन विवेक को किसी 'सीरियस केस' के सिलसिले मे दूर देहात जाना था। उस दिन खूब ठण्ड तो थी ही साथ ही वर्षा भी हो गयी थी। विवेक काफी भीग गया। रास्ते मे ही उसे ज्वर हो आया इस-लिए वह आधे रास्ते से ही लौट आया। उसके जल्द घर लौटने की संभावना कालीपद को भी नही थी। लेकिन जब ज्वर-तप्त विवेक को कालीपद ने बताया कि मिस्टर क्लाइड आये थे और आज सवेरे ही से वानीरा गयी हुई है तो सुनकर न उसे आश्चर्य हुआ और न ही वह चकित हुआ बल्कि विरत हो उठा। एक अस्पष्ट बोध उसे घेरे जा रहा था कि अब वानीरा बराबर घर से बाहर रहने लगी है। कपड़े बदल आराम करने के बजाय अपने भीतर जो एक अस्पष्ट असुविधा हो रही थी उससे मुक्त होने के लिए वह अपने कमरे मे जाकर आराम कुर्सी पर अर्ध लेटे, आँखे मूँदे अनिश्चित मन से सोचता रहा। जाने कब इसी अनिश्चितता में वह पढ़ने लगा। यद्यपि वह अनजाने ही वानीरा की प्रतीक्षा भी कर रहा था पर इसका उसे स्वयं बोध नही था। खिड़की से आती ढलती साँझ की तेज ठण्ढी हवा उसे पीठ की ओर काट रही थी। कई बार उसका मन हुआ कि वह उठ कर या तो शाल ले ले या कालीपद से ही मँगवाले पर बढ़ते ताप की गरमी मे वह उतप्त था। खिड़की के बाहर स्पष्टत. अँधेरा हो गया था। विवेक अपने विचारों में डूबा पढ़ने मे खोया हुआ था।....तब कही उसने बाहर वाले दरवाजे

के पास वानीरा की आवाज सुनी थी। साथ ही चम्मचो की खनक वाली उसकी हँसी, उपरान्त क्लाइड का 'गुडनाइट' भी। तब वानीरा के पैरों की आहट बरामदे मे थी, पर विवेक को लगा था कि जैसे उसके जलते सिर में वानीरा पैर पटक-पटक कर चल रही है। उसने वानीरा का कालीपद को पुकारना भी सुना। और जब कालीपद से उसे मालूम हुआ कि विवेक बहुत जल्द ही लौटकर आ गया है, साथ ही ज्वर से उत्तप्त है तो उसका आश्चर्य करना स्वाभाविक ही था पर वह आश्चर्य से अधिक चौंकी, यह विवेक को समझते देर न लगी। विवेक के घर जल्द लौट आने की असभावना से अधिक इसके सभावित हो जाने पर उसका सतर्क हो जाना स्वाभाविक ही था। किताब पढते हुए भी उसने कनखियो से वनीरा को प्रवेशते देखा। वह स्तम्भित सी पर्दे को बड़े अपराध भाव से पकड़े कुछ देर को रुकी, उपरान्त बढते हुए बोली,

— जल्दी कैसे आ गये तुम ?

विवेक का मन तो हुआ कुछ कड़ुवा बोलने के लिए पर वह केवल चुप हो उसकी ओर, अभिनय देखते दर्शक की निसंगता तुल्य देखने लगा। वानीरा को विवेक का मात्र देखते रहना ऐसे ही लगा कि जैसे कोई मूर्ति हठात, अविश्वसनीय रूप से आपको देखने लगे तो कैसा भय जैसा लगता है न ? बस, कुछ ऐसा हो, बड़ा ठण्ढा-ठण्ढा सा भय उसे लगा। स्पष्ट था कि वह विवेक से कभी यह नही आशा रखती थी। मौन का ऐसा क्षण, जिसमे एक ओर पाथरत्व का भाव हो तथा दूसरी ओर जड़ता आ जाए तो क्षण, सवत्सर की भाँति दीर्घायु लगता है।

— क्या बात है विवेक ?

वानीरा जानती थी कि यह बात मात्र उसके ओठो से ही निकली है। साथ ही उसे विश्वास था कि उसकी किसी बात का उत्तर नही मिलेगा क्योंकि आज विवेक को उसने संभवतः पहली बार जलती पुतलियों वाली निःशब्द कठोरता से युक्त देखा था। लेकिन विवेक के निकट केवल तपन के बोध के अतिरिक्त और कही कुछ नही था। संभवतः उसे यह भी चेत नहीं था कि वह क्या कर रहा है। देख वह

रहा था ।

— तबीयत कैसे खराब हो गयी ?

विवेक को स्वयं लगा कि वह मूर्तियो की भाँति मुसकराया है । पर वानीरा को लगा कि जैसे जलती पुतलियो वाली आग, उसे आदिवासियो की तरह घेर कर हू-हू करती हँस रही है । वह भयभीत हो अपने कमरे के लिए लौट पडी ।

गत तीन दिन से वर्षा थमने का नाम ही नही ले रही थी । सर्दियाँ खासी बढ़ गयी थी । तीन दिन बाद विवेक का बुखार उतरा । अभी उसे काफी कमजोरी थी परन्तु कर्तव्य-बोध ने चौथे दिन ही बैग और स्टेथस्कोप सम्हालने के लिए बाध्य किया । वह अभी कपड़े पहन ही रहा था कि वानीरा आयी,

— कालीपद बता रहा था कि तुम डिस्पेन्सरी जा रहे हो ?

विवेक चुप रहना चाहता था । वह गत तीन दिन अपने बिस्तरे पर चुपचाप पड़ा रहा था । सिवाय परिचर्या के वानीरा भी बराबर बोलना खोजती रही थी पर वह अपने को भी तो उबला हुआ बर्तन अनुभव करती रही थी । सूनी-सूनी तपी आँखों से विवेक वानीरा को, घर की दीवारो को मात्र लीपता रहा था पर बोल, जैसे बीते हुए समय की भाँति हमेशा के लिए चुक चुका था ।

— मेरे लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नही वानीरा !

नये सिरे से घिरी बदली की काली सघन छाया से चारों ओर बड़ा अँधेरा घिर आया था । वानीरा अपने से टूट कर विवेक को ग्रहण करना चाहती रही ताकि बता सके कि वह इन दिनों क्या करती रही है । उस दिन क्या करती रही थी जिस दिन विवेक घर बीमार होकर लौटा था पर विवेक मे शिला के जैसी कितनी ठण्ढी उपेक्षा थी । वह विवशता मे फुँक उठी,

— क्या आज न जाओगे तो बड़ी भारी कमाई मे कमी हो जाएगी।

विवेक जिस प्रकार मुसकराया उसमे अपनी सत्ता को अपरोक्ष रहने देने के साथ-साथ अचुनौता रहने दिया जाए का भी भाव था। वह कोट के बटन लगा चुका था। स्कूल जाते बच्चो की सी प्रसन्न अँगुलियों से उसने जूते के फीते कसने शुरू किये, और एक बार फिर बड़ी सन्तोष की मुसकराहट वानीरा को सौंप वह अन्य दिनो की भाँति जूतो को खट्खट् करता हुआ बढ गया।

विवेक ने भी सोचा यही था कि वह घटे-दो-घटे मे लौट आएगा। लेकिन जब वह डिसपेंसरी पहुँचा तो रोगियों की भीड जमा थी। गत कई दिनों की लगातार वर्षा और ठण्ढ ने लोगो की मुश्किल कर रखी थी। निमोनिया, डबल-निमोनिया के रोगियो की सख्या बढ़ गयी थी। चारो ओर बड़ा भीगा-ठण्ढा वातावरण था। स्वय उसकी तबीयत बिलकुल भी ठीक नही हुई थी पर वह बाध्य था कि अपना कुछ भी विचार किये बिना वह रोगियो को देखे। और सारे रोगियो को देखते-सुनते बारह बज गये। अपनी कुर्सी के पास जलती अँगीठी मे वह हाथ सेंकता हुआ चलने की तैयारी कर रहा था। उसे वर्षा थमने की प्रतीक्षा थी। यद्यपि आज के इस परिश्रम ने उसे न केवल पूरा थका दिया था पर उसका सिर अब तवे सा जलने भी लगा था। अभी वह अपने कम्पाउन्डर से कह कर किसी गाड़ी की व्यवस्था के बारे मे सोच ही रहा था कि तभी एक कहारिन अपने बीमार लड़के के लिए डाक्टर को बुलाने के लिए आयी। ऐसी भीषण वृष्टि एव अपनी उत्तप्ता के कारण वह नहीं जाना चाह रहा था। उसने उस लड़के को यहीं लिवा ले आने के लिए कहा, या न हो तो वह दवा ले जाए पर कहारिन बारंबार रोते हुए उसके पैरो पर गिर रही थी। इस वर्षा-आँधी में जाने की कल्पना मात्र से वह सिहर उठा। वह स्वयं

मिट्टी की आकण्ठ भीगी दीवार सा खद गया था पर जाने के सिवाय कोई चारा नही था। जिस समय वह डिसपेसरी से नीचे उतरा, रथजात्रा वाले मैदान मे भीषण वृष्टि के साथ-साथ हवा का प्रवेग सड़क बुहारता नील फुहारों मे उड़ा पड रहा था। चारों ओर वृष्टि के शोर और धुध के बड़ा निर्जन था। दो-चार गाये जरूर दूकानो की आड किये पानी से भीगती खड़ी थी। हवा का प्रकोप कमसिन छाते के लिए बहुत ज्यादा था इसलिए वह उसे कस कर थामे था। यद्यपि छाता नही उलटा पर इस चेष्टा मे वह भीगा जरूर। उसे अपने से अधिक करुणा उस स्त्री पर थी जो हरे एकवस्त्र मे निराच्छन्न भीगती उसे लिवाये आगे-आगे चली जा रही थी। यद्यपि स्त्री को देखकर कोई भी कह सकता था कि वह इस वृष्टि मे यहाँ नही है।...पगडडियाँ तक जल भरी हो गयी थी। छोटे-छोटे नाले उन पगडडियो के रास्ते बहने लगे थे। भीगता हरी घास का विस्तार तथा वर्षा झेलता गाछो का सघन परिवार देख विवेक को बडी कँपकँपी सी हो रही थी। जिस समय वह स्त्री की पोखर वाली झोपड़ी पर पहुँचा, गँदले पानी के पोखर में बूदे झिरझिरा रही थी। ताड़ के भीगते पेड़ो पर से पानी फिसल रहा था।

लड़के की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वह बुखार मे फुँक रहा था। झोपड़ी की जर्जर दीवारों तथा टपकते छाजन से जिस तरह आँधी-पानी आ रहा था उसमे वह स्वय जब काँप रहा था तब एक फटी सी गुदड़ी मे सोये उस लड़के की क्या स्थिति होगी यह वह भलीभाँति समझ ले गया। मछली पकड़ने का जाल, डलिया आदि खूँटी पर रखे-टँगे भीग रहे थे। दीवारो के पार भले ही विपत्तिजनक खुलापन था, पर था तो, लेकिन जरा सी दीवारो ने रक्षा के नाम पर सिमट कर कैसा भयानक वातावरण कर दिया था। भला ऐसी भयानकता में कोई बच सकता है? स्पष्ट था कि लड़के का रोग अपनी अन्तिम अवस्था मे था पर यह कह सकना विवेक के लिए तो मात्र कठिन ही था परन्तु इसे सुन सकना उस स्त्री के लिए कितना असह्य होगा, जिसकी कि वह

एक मात्र सन्तान थी। बैग मे जो इजेक्शन थे उनके अलावा भी उसे चाहिए थे। ऐसी वर्षा मे दवाई की कोई दूकान खुली होगी इसमे उसे पूरा शक था। इंजेक्शन का नाम लिखकर उसने उस स्त्री को दिया पर जिस हिचक के साथ उसने विवश भाव से उस पुर्जे को लिया उसे देख उस घर की विपन्नता समझ ले जाना विवेक के लिए कठिन न था और न ही नया था। उसने उसे पेसे दिये कि जाकर वह इजेक्शन ले आये।

स्त्री की अनुपस्थिति मे वह बराबर यही सोचता रहा कि किस प्रकार लडके को बचाया जा सकता है, जो कि असंभव लग रहा था। लड़के का मुख रोग और पीड़ा सहते-सहते विकलाग लग रहा था। उसे बार-बार मूर्च्छा हो आती थी। वह जैसे रोग से लडते-लड़ते थक गया था। वह अपनी उखडती हुई साँस को दाँतो से दबाये रखना चाह रहा था। विवशता मे कराह कर जब वह लडका खुले घाव सी अपनी विपन्न आँखे खोल किसी सहायता के लिए देखने लगता तो विवेक को लगता कि लहर अभी सदा के लिए गयी नही बल्कि फिर लौट आयी है। ज्वर संभवत. अपनो अन्तिम तेजी पर था। किसी भी क्षण इतनी तेज गर्मी में वह लकड़ी सा चिटख सकता था और इसे रोक रखना अब संभव नही लग रहा था। विवेक को उस स्त्री के लौट आने की प्रतीक्षा थी, दवाई की नही, इसलिए कि वह स्त्री अपने पुत्र को अन्तिम बार तो देख ले। ..और जिस समय वह स्त्री आद्यन्त भीगी झोपड़ी में घुसी उसका पुत्र अन्तिम साँस ले रहा था और स्त्री चीख उठी।
स्त्री जिस प्रकार विलाप करती पुत्र की मृत देह से लिपटी पड़ रही थी उसमे वह समझ नही पा रहा था कि अब उसे क्या करना चाहिए। आस पास के कुछ लोग जमा हो गये थे। अब मृत्यु वैयक्तिक दुर्घटना न रह कर सामाजिक कर्म बनती जा रही थी। चुपचाप विवेक ने अपनी आज की कमाई लड़के के अन्तिम कार्य सम्पन्न हेतु रख दी और बाहर निकला। तब भी वृष्टि धाराधर ही थी। कुछ दूर चलने पर उसे अपने बारे में सोचने का अवकाश मिला तो उसे लगा कि वह काफी ठण्ढ खा

चुका है और वह दुबारा इस तरह भीग कर ज्यादा दूर बैग उठाये नहीं चल सकेगा। उसका सिर फटा जा रहा था। उत्तप्तती देह को भीगे कपडे झनझनाये दे रहे थे। उसे अपने कधों पर कपड़ों का बोझ लग रहा था। भीतर बाहर बड़ी ही अस्पष्टता लग रही थी। अपनी ही देह का भी बोझ होता है यह ऐसे ही क्षणों में बोधित होता है अन्यथा साधारणतया तो हम उसे फूल की भाँति ही हल्का-फुल्का पाते है और तभी तो उसे अनायास लिये रहते हैं।

और जब वह 'सी-बीच' वाली सड़क पर पहुँचा तो दूर सिरे पर प्रतीतती अपनी 'निर्जन सिकता' सुदूर मगल ग्रह सी लगी। वह एक-एक पैर नही बल्कि एक-एक पृथ्वी उठा रहा था। उसकी सारी चेष्टा छाते को न उलटने देने में लगी थी फलस्वरूप वह अँगुलियों मे समग्र हो उठा था, अतएव छाता थामे अँगुलियों में वह कस उठा था। बारंबार उसके दिमाग में उत्तप्तता की एक कील झनझनाती आरपार हो जाती और वह कराह कर जैसे फुँक उठता। हर बार उसे यही लगता कि अब वह यहीं गिर कर ढेर हो जाएगा। दूरियों का आभास तथा महत्व भी ऐसे ही क्षणो में अनुभव होता है। नगण्य कुछ नही होता। जिस दिन भी हमारे पैरों के नीचे दबा हुआ स्वत्व, स्थान तथा समय अपने वर्चस्व को प्राप्त कर लेता है तब हम निरीह हो जाते हैं। तब कल तक का नगण्य हमारे लिए परम नियामक, सत्ता तथा काल बन जाता है।...पहली बार जीवन और मृत्यु के बीच की क्षीण रेखा का अनुभव उसे हो रहा था कि वह अब ऐसे ही भीगते हुए छाता थामे लाख चलता जाए, कभी भी, कही भी पहुँचने के लिए वह नही चल रहा है। सब कुछ निरपेक्ष लगता है।

जब वह काटेज के बाहरी फाटक पर पहुँचा तो उसे विश्वास नहीं हुआ कि वह स्वतः चल कर यहाँ पहुँचा है। दूर वायव्य कोण में आकाश खुलने लगा था, पर अभी वह आभास भर था। उपवन की कदली तथा लताएँ इतनी वृष्टि मे या तो उखड़ी पड़ी थी या भारनता थी। दूबों में मटियाला पानी भर गया था। नीबू अवश्य धुलकर चटख पीले

लग रहे थे ।

कालीपद ने जब द्वार खोला तो बड़ी जलती आँखों से विवेक ने उसे पहचानने की-सी चेष्टा की । घर की एक गर्मी होती है यह उसे पहली बार बरामदे में ही अनुभव हुआ, जो कि भीगा हुआ था ।

सात दिन । सात राते । केवल ज्वर, की उत्तप्तता और सन्निपात । वानीरा की चिन्ता तथा घबराहट स्वाभाविक थी पर स्थानीय डाक्टरो के लिए विशेष कुछ कर सकना कठिन हो रहा था । क्लाइड ने वानीरा को एकान्त में समझाया कि रोग की गंभीरता कही असंभवता की ओर न चली जाए इसलिए अच्छा है कि विवेक को लेकर वह कलकत्ता चली जाए और वानीरा को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही क्योंकि क्लाइड मिशन-अस्पताल में सारा प्रबंध करवा देगा । वानीरा को इस समय और कुछ न सोचकर कलकत्ते की तैयारी करनी चाहिए। वानीरा की अर्थ संबंधी चिन्ता भी स्वाभाविक थी पर क्लाइड का आश्वासन भी कम महत्वपूर्ण नहीं था । विवेक की कभी प्रेक्टिस ऐसी तो थी नही कि किसी भी लम्बी बीमारी का खर्च इतने समय तक कलकत्ते जैसे शहर में वहन किया जाता और जब यही सब बातें उसने विवेक को स्पष्ट कीं तो उसका निरीह बनकर मात्र देखते रह जाना उसकी समझ मे नही आया ।

—तो तुमने अपनी राय नहीं बतायी ?

— कौन सी राय वानीरा ?

—यही कलकत्ते चलने की ।

विवेक अपने बिस्तर पर लेटा हुआ गुँथी अँगुलियाँ आँखों पर रखे वानीरा की बात सुन रहा था । वह बातों के सारे सन्दर्भ समझ रहा था । अपनी विवशता थी तथा वानीरा की...क्या ? शायद अपने मनोभाव को वह स्वयं से ही असंज्ञ रहने देना चाह रहा था । क्योंकि

संज्ञित कर देने पर तो अपने भीतर भयंकर विस्फोट हो जाता। लेकिन विवेक के पास इसका क्या प्रमाण है कि वानीरा का कलकत्ते के लिए इतना आग्रह करना अतिरिक्त है ?

और जब वानीरा ने विवेक में पत्थर का मौन पाया तो वह वितृष्ण हो उठ गयी। वह समझ रही थी कि विवेक क्यों चुप हो जाता है हमेशा, लेकिन वह भी उसके मौन को तुडवा देना नही चाहती क्योकि तब जो सभाव्य विस्फोट होता उसका सामना कर सकने की वह स्थिति मे नही थी।

जब कि क्लाइड जानता था कि विवेक-वानीरा के सामने कलकत्ते जाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है या होगा, इसलिए उसने तार से सारा प्रबंध करवा लिया था। विवेक एक नहीं, तीन रातों तक बराबर इस प्रश्न पर सोचता रहा कि वह क्लाइड के इस उपकार को स्वीकारे या न स्वीकारे। हर ऊँच-नीच उसके सामने कौध-कौध जाता था। अपने को आश्वसित करने के लिए वह रातों तर्क-वितर्क करता रहा है। अपने को शंकाहीन करने के लिए वह सोये हुए वानीरा के मुख को बाँचने आधी-आधी रातो में लड़खड़ाता, लालटेन हाथ मे लिये ज्वर में काँपता, थरथराता गया है और उसे निर्दोष सोते देख फिर अनिर्णीत मन लिये लौट जाता रहा है। यद्यपि उसे अब बहुत कुछ अवश्यम्भावी लग रहा था पर वह अपने से जूझता रहा था। परिस्थि-तियाँ स्वतः ही निश्चित होती जा रही थी और वह भीतर ही भीतर घुटने टेक दे रहा था। एक बार पुरी छोड़ने का वह अर्थ समझ रहा था।

सामने कुर्सी पर बैठा क्लाइड बीमारी की गंभीरता, कलकत्ते जाने की अनिवार्यता तथा किसी भी बारे में चिन्ता न करने की आश्वस्तता जो दे रहा था वह विवेक को अकाल तोड़े दे रही थी। परिस्थिति, समय और स्व से परे होकर अपरोक्ष भवितव्य को देख सकने की अकुलाहट उसमें थी पर क्या कभी किसी से ऐसा संभव हुआ है ?

विवेक का ध्यान टूटा जब एक पोर्टर की आवाज उसकी खिड़की के पास से खिचती चली गयी। उसने शायद स्टेशन का नाम पुकारा था। खूब प्रशस्त अँधेरा था जिसमे उस छोटे से स्टेशन का अकेला बड़ा-सा गैस सूँ-सूँ करता जल रहा था। स्टेशन मास्टर के केबिन से लालटेन की पीली रोशनी तथा घटी टुनटुनाने की आवाज आ रही थी। किसी का एकाध बोलता स्वर भी अँधेरे में कही था, बाकी निःशब्दता थी। कम्पार्टमेन्ट मे सभी सोये हुए थे। सर्दी काफी हो आयी थी। खिड़की की लोहे की फ्रेम, बर्फ जमी लग रही थी। यद्यपि अँधेरा अपारदर्शी था पर वहाँ निष्कारण अबाधहीनता थी, इस विचार से ही विवेक के मन में उस फैले अँधेरे के प्रति एक मैत्रीभाव स्थापित होने लगा था। उसे कही न कही उस स्टेशन मास्टर तक से ईर्ष्या होने लगी थी जो अपने केबिन के सामने खड़ा हुआ किसी से बातें कर रहा था। इस निर्जन का वह एक मूर्त, निश्चिन्त अंश है इसलिए वह भी अबाध निश्चिन्त होगा इस विचार ने ही विवेक को लगभग दुःखी कर दिया। और ट्रेन फिर चलने लगी। थोड़ी दूर तक तो वह पीछे छूटते गैस को देखता रहा, शायद वह और भी देखता परन्तु तभी ट्रेन खट्खटाँग करती एक पुल पर से तेजी से गुजरने लगी। अँधेरे में कुहरा काफी था इसीलिए तारे नही दिखायी दे रहे थे और उसके सामने फिर अँधेरे मे यात्रा करने का बोध भर उठा।

कैसे विमन भाव से वह बँधता सामान देखता रहा था। वह अन्तर्मन में बराबर वानीरा की चेष्टाएँ गौर करता रहा कि किस सधे भाव से, कर्तव्य रूप में ही वह सारा काम सम्पन्न करवाती रही। कही कुछ अतिरिक्त नही था।...जब कालीपद ने बाहर के दरवाजे में भी ताला लगाया तब वह कैसा विह्वल हो उठा था। उसे अज्ञात में ही लगा था कि घर में इस तरह ताला लगना ठीक नहीं हुआ है पर यह विचार कितनी क्षीणता तथा क्षणिकता से आया था कि उसके प्रभाव को किसी भी रूप मे अनुभव कर सकना किसी के लिए भी कठिन ही होता। वृक्षभाव के व्यक्तियों के लिए स्थान और सम्बन्ध वह धरती होते हैं जहाँ वे जड़े जमाये लहलहाते होते हैं। ऐसे व्यक्ति दूसरों को यात्रा करते देख प्रशंसानत होते रहते है पर स्वयं के लिए एक पग की यात्रा भी भयानक, प्राणान्तक पीडा देती है। पुरी छूट रहा है। अब वह यह आकाश, ये दृश्य, यह प्लेटफार्म, ये लोग पता नहीं कब देख पाएगा, इस परिकल्पना मात्र से वह भरी-भरी आँख हो रहा था। कम्पार्टमेट में अन्यमनस्क बने बैठे विवेक को वानीरा और क्लाइड ने किंचित मनोरंजित करना चाहा पर वह एक उदास चित्र बना मूक, मौन बैठा रहा। हर छूटता हुआ दृश्य उसे अपनी बीतती हुई आयु का भाग लग रहा था। पर, न चाहने पर भी बीतना तो होता ही है...इसके बाद विशेष कुछ नही स्मरण आ रहा था, केवल यही कि

मिशन-अस्पताल मे वह लगभग छह हफ्ते बिस्तरे पर पडा रहा था। उसकी देह, पतझर का वृक्ष हो गयी थी। नये के लिए समय की आवश्यकता थी, और इसीलिए तब उत्तरपाड़ा मे एक छोटा-सा मकान लेकर पूर्ण स्वस्थ होने के लिए दो माह और रहना पड़ा था। इन्ही दिनो उसे पुरी छोडते समय की भावना बडी मूर्त लगी कि पता नही वह पुरी फिर कब देख सकेगा। क्योकि पुरी लौट कर प्रेक्टिस करने की सारी व्यर्थताओं पर वानीरा बहस करती और विवेक सोचने के लिए बाध्य था। कलकत्ता वह स्वय नही रहना चाहता था। कलकत्ते का भीगा अँधेरापन उसे प्रिय नही था। क्लाइड इसी बीच दो बार डिब्रूगढ से देखने आया था। वानीरा को डायमड-हार्बर तक वह घुमा लाये ताकि उसका परिचर्या करता मन कुछ खुलापन कर सके, यह स्वयं विवेक ने बडी ही फीकी मुस्कराहट के साथ क्लाइड से कहा था। यद्यपि विवेक जानता था कि जो छूट गया है, उसका छूटना अनिवार्य ही था पर उसकी सत्ता इस अनिवार्यता से उलझ-उलझ पडती थी। और जिस दिन अपने पर पत्थर रख कर उसने क्लाइड के प्रस्ताव, वानीरा के तर्कों को विवश फीकी प्रसन्नता के साथ स्वीकारा, वह विक्टोरिया मेमोरियल के लान पर चित लेटे हुए अनन्त दूरियों वाले आकाश को एक मूर्ख व्यक्ति की भाँति देखता रहा था। दूर सीढियों पर सगमरमर के परिपार्श्व में मूँगिया साड़ी में वानीरा एक दुर्लभ चित्र लग रही थी। वह चूँकि थक गया था इसलिए मेमोरियल की सीढ़ियो से ही लौटकर लान में आकर विश्राम कर रहा था। क्लाइड के साथ वानीरा, फौवारे सी प्रसन्नमना हो मेमोरियल देखने चली गयी थी। और इसके बाद जब विक्टोरिया की छत पर कालीपद सामान रख रहा था तब दो मास का परिचित उत्तरपाड़ा छोड़ते हुए भी लगभग वही व्यथा हुई और एक बार उखड़ी जड़ों वाला पेड़ जिस प्रकार दुबारा उखाड़े जाने पर निर्वैयक्तिक हो जाता है वैसे ही वह भी हो गया था, जैसे पता नही किसी चीज की उसे प्रतीक्षा थी। लेकिन क्या वह स्वयं स्पष्ट था इस बारे में? तभी तो पुरी की अंतिम व्यवस्था

करने के लिए भी वह वानीरा और कालीपद के साथ नहीं गया।
और पहाड़ों, नदियों, पुलों को पार करते दो दिनों की अनवरत यात्रा के बाद जब तीसरे दिन वे लोग डिब्रूगढ़ पहुँचे तो उसे लगा कि वह किसी सुदूर कोने में केवल नितान्त बन जाने के लिए आ गया है।

वानीरा ने करवट ली तो उसकी चूड़ियों का शब्द बड़ा मीठा सा खनक गया। शायद उसने पानी माँगा।

— वानीरा ! क्या पानी चाहिए ?

— हाँ। अरे, तुम सोये नही अभी ?

बिना कुछ उत्तर दिये उसने वानीरा को पानी दिया। कम्पार्टमेंट क गहरी नीली रोशनी लिहाफ के बाहर निकले वानीरा के गोरे हाथों पर गिरकर बैंगनी खिल आयो थी। पानी पीकर उसने पूछा,

— कितना बज रहा है ?

रेडियम काँटों को आँखों पर जोर डालते हुए, देखते बोला,

— बारह-दस हो रहा है।

— अरे, मैं तो समझी थी कि सवेरे के तीन चार तो बज ही रहे होंगे।

— नही अभी तो पूरी रात बाकी है। ठण्ढ तो नहीं लग रही है ? कम्बल चाहिए क्या ?

— नहीं।

और वह करवट लेकर सो गयी।

क्लाइड की कार उन लोगों के लिए स्टेशन के बाहर तैयार थी। पहली आँखो से प्रत्येक नयी जगह, नयी स्त्री की भाँति मोहती है। डिब्रूगढ़ भी पहली आँखों से तो साधारण, सुन्दर ही लगा। और जब डिब्रूगढ़ के बाहर खुले विस्तार में क्लाइड कार भगाते हुए उन्हे लिवा ले जा रहा था तब उसे अपने भौगोलिक ज्ञान पर तरस आया। उसका ख्याल था कि डिब्रूगढ कोई पहाड़ी जगह है लेकिन जब खूब हरियाला विस्तार चारों ओर देखा तो अच्छा ही लगा। पतली सड़क के दोनो ओर चाबगान फैले हुए थे। लगभग पहली बार ही विवेक ने चाबगान देखे थे। अपनी कल्पना से एक दम विपरीत ढंग के बगान देखकर निराशा होनी चाहिए थी परन्तु उल्टे उसे खूब प्रसन्नता हुई थी। चाय के साफ-सुथरे, बगानों के बीच, लम्बी कतारों मे लगे सफेद पुते तने वाले पलाश देखकर वह लगभग विभोर हो गया। अभी फरवरी लगा था। फाल्गुन की चारों ओर प्रतीक्षा समाप्त प्रायः ही थी। वह कल्पना कर ले गया कि फाल्गुन और चैत्र में चाबगान कितने सुन्दर, अप्रतिम, अद्वितीय हो जाते होगे, और एक लाल नीले खंभों वाली फेंसिग की ओर कार ने मोड़ लिया। क्लाइड का बँगला बगान के बीच में कुछ ऊँचाई पर था। पोर्टिको में खड़ी कार से जब उसने उतार में चला गया बगान देखा तो उसे हरी झाँई वाले समुद्र की याद हो आयी। चारों ओर सन्नाटे वाली शाति थी। जिस समय उन्हें क्लाइड उनके कमरे में छोड़-

कर विदा हुआ तो खिड़की से आते सवेरे के धुले आलोक में कमरा, चीजें और वे दोनों बडे खुले-खुले लगे। खिड़की के पास निश्चिन्त मन हो आरामकुर्सी पर बैठ अपने को सहेज सकना, ऐसे में संभव था। वह आँखे मूँदे अनुभव करता रहा कि वानीरा स्नान की तैयारी मे है और कालीपद यहाँ की सारी व्यवस्था समझने गया हुआ है।

विवेक के साथ वानीरा भी चाहती थी कि क्लाइड का आतिथ्य ज्यादा दिन नही स्वीकारना चाहिए इसलिए वह कभी क्लाइड के साथ, तो कभी वानीरा के साथ, तो कभी अकेला ही कस्बे में मकान तथा डिसपैसरी के लिए उपयुक्त जगह की तलाश में गया। जब आठ दिनों की दौड़-धूप के बाद बिश्टूपुर में चार कमरों वाली एक छोटी सी काटेज तथा सदर बजार मे चौराहे पर पेट्रोल की टकी की बगल में जब डिसपेसरी के लिए जगह मिल गयी तो विवेक को बड़ा ही आत्मविश्वास सा लगा जैसे वह अभी भी है। क्लाइड उन्हे बिश्टूपुर वाले बासे पर छोड़ गया और जब बड़े ही अनपेक्षित ढग से खुले मे तार बाँधा गया तथा उस पर जब वानीरा की शांतिपुरी सूखने लगी तो विवेक को लगा कि जितना कुछ वह बीत गया समझ रहा था वैसा सब कुछ नही है। कालीपद ने केलों को काट-छाँट कर खुले आँगन को व्यवस्थित कर दिया। रोज शाम जब तुलसी को प्रणामती तथा शख बजाती वानीरा को उसने देखा तो उसे बीते हुए विगत के कुछ कडवे सन्दर्भो पर विश्वास नही हुआ। इस बार वानीरा ने न केवल घर ही सम्हाला वरन डिसपेन्सरी की सारी व्यवस्था को भी अपने हाथों मे रखा। वानीरा का उत्साह देखकर विवेक को लगा कि यदि सभव होता तो वह विवेक से डाक्टरी भी ले लेती और स्वय ही कुर्सी पर बैठ जाती।

कुछ ही दिनो मे क्लाइड के सत्प्रयत्न से विवेक की डाक्टरी ने इस बार अधिक व्यवस्थित स्वरूप लिया। विवेक चाहता तो यहाँ भी वही पुरी वाली प्रेक्टिस करता पर इस बार वानीरा जैसे सतर्क थी इसलिए विवेक के न चाहने पर भी धीरे-धीरे उसके पेशन्ट्स या तो मिलिट्री के अफसर होने लगे या चाबगानों के बड़े-बड़े मालिक। चूँकि इन

लोगों से ही उसे अवकाश नही मिल पाता तब भला वह साधारण रोगियों को कब देखता ? और रोगियों को भी लगा कि यह बड़े आदमियों के डाक्टर है। इस बार की व्यवस्था को अति-आधुनिक कर देने का श्रेय तो वानीरा को था ही पर विवेक और रोगियों के बीच काउन्टर-प्रथा, टोकन नबर लेने की प्रणाली पर वानीरा अपने आदमी के द्वारा नियत्रण किये थी। इमीलिए डाक्टर तक पहुँचने के पूर्व ही रोगी के सामर्थ्य की पहचान हो जाती थी। विवेक के हाथों में केवल रोगी को देखना था बाकी तो डिसपेंसरी की व्यवस्था ही ऐसी थी कि रोगी हर जगह पैसा डालता जाता और वह आगे बढते हुए अत मे दवाई लेकर तभी निकल पाता था जब वह पूरा पैसा दे चुका होता। यहाँ आकर वानीरा ने जैसे विवेक का सोचना तक ले लिया था। विवेक को उसने एक प्रकार से सारी चिन्ताओ से मुक्त कर दिया था। बल्कि उसे किन-किन रोगियों को कब-अब देखने जाना है इसकी सूची तक विवेक को जेब में रखी मिलती। चाहे विवेक किसी विजिट पर ही गया हो, चौबीसों घण्टे एक कम्पाउण्डर उसके साथ रहता। पैसे के लेन-देन का दायित्व उस कम्पाउंडर पर था और जो कि वानीरा के प्रति उत्तरदायी था। पर यह वानीरा ने सब इस मृदुलता के साथ तथा सहज ढंग से किया था कि किसी को भी घुटन या कठिनाई अनुभव होने का प्रश्न ही नहीं था। बल्कि इतनी व्यस्तता के होते हुए भी वानीरा न केवल विवेक के लिए ही उसका निजी समय निकाल देती थी बल्कि अब वे दोनों भी आये दिन एक निश्चित समय पर मार्केटिंग करने भी जाते। लोगों के यहाँ दावतों पर भो पूर्ण सुरूचित होकर जाते। ब्रह्मपुत्र के बाँध पर घूमते दोनों को प्रायः लोगो ने देखा है। महीने में एकाध बार क्लाइड के साथ 'लाग ट्रिप' पर भी हो आया जाता। विवेक को कुल मिला कर एक बड़ी अविश्वसनीय निश्चिन्ता अनुभव होने लगी। पुरी के आरंभिक दिनों और इन दिनों में यौवन और प्रौढता का सा अन्तर था, पर सुखमय प्रौढ़ता का। विवेक को अब केवल अपने में कामना

करना होता था और कभी ऐसा नही हुआ होगा कि वह उसे बिना माँगे न मिला हो, क्योंकि वह पहले ही कर दिया जा चुका होता। स्पष्टतः पति-पत्नी के बीच अब कोई व्यवधान नही था। अब हमेशा वानीरा पार्श्व में ही उसे अनुभव होती चाहे वह शनिवार को क्लाइड के यहाँ खाना खाने जाना होता या किसी कर्नल-मेजर की टी-पार्टी होती। बाँध की ढलान पर से चाहे पत्थर लुढकाये जाते या टहला जाता वनीरा के केशो की गंध अब फिर विवेक को चौबीसो घटे अनुभव होने लगी थी। (विवेक को कभी-कभी आश्चर्य भी होता वानीरा के इस नये रूप पर, जिसमे कि सारी अदृश्य संभावनाएँ हठात ऊपर आ गयी थी। पता नही अब पुरी जैसी निरीह प्रतीक्षा थी कि नही पर जब कभी विवेक वानीरा को पाता, व्यस्त ही पाता) घर की वस्तुओं में भी वृद्धि के साथ साथ सुरुचि सम्पन्नता तो थी ही परन्तु उपयोगिता का ध्यान रखते हुए भी उनके शोभातत्व को कहो भी गौण नही होने दिया गया था। आगे-पीछे बरामदे जाफरियों से घेर कर रँग दिये गये थे और बेले चढ जाने पर तो वे बरामदे दर्शनीय हो गये थे। खुले ड्राइग-रूम तथा लताच्छादित डाईनिग-रूम की कल्पना वानीरा की अपनी ही थी। क्लाइड से कहकर शिलङ से डेलिया आदि के फूलों की स्वस्थ कलमे, बीज आदि मँगाकर वानीरा ने अपने हाथों उस छोटी सी जगह में विशिष्टता उत्पन्न कर दी थी। कुछ ही दिनों में बडे-से-बडे व्यक्ति को भी अपने यहाँ पार्टी दे सकने की उसकी स्थिति एवं क्षमता हो गयी थी। विवेक इन चीजो के प्रति उदासीन तो नही ही रहा पर सोत्साह कुछ किया भी नही उसने। उसने ऐसा होने दिया, यही उसका बड़ा भारी सहयोग स्वीकारा जाएगा। खाली घर मे तो आप अपने को चाहे जहाँ फैलाते फिरते हैं पर एकत्रित होती हुई चीजे जैसे-जैसे अपने लिए नियत स्थान बनाती जाती है तब आपके लिए अतिरिक्त फिजूल की कोई जगह ही नही बची होती है कि आप चाहे जहाँ हो, बल्कि आपके चलने, उठने, बैठने तक को चीजे नियंत्रित करती होती है। ऐसी नियत्रण करने वाली चीजों का सुन्दर होना तो

अनिवार्य है ही। रास्ते में अगर रद्दी कागज पडा होगा तो वह भला क्या आपका नियन्त्रण करेगा ? लेकिन यदि एक गोल टेवल पर कोई अमूर्त (किसी की भी समझ मे न आने वाली, स्वय उस वस्तु के मालिक की भी) मूर्ति जैसी चीज बीच रास्ते मे रख दी जाए तो आप स्वत: बाध्य हो जाएँगे कतराकर निकलने के लिए।— वैसे वानीरा को यह भी पता था कि कम से कम वस्तुएँ तक कैसे घर को भरा पूरा बनाते हुए भी विस्तार देती है इसलिए इतनी चीजों के होते हुए भी विवेक को एक क्षण की असुविधा या आपत्ति का कोई कारण नही हो सकता था। पुरी वाले से यह घर कहीं छोटा था पर इतना सुगठित कर दिया था वानीरा ने कि वह विलास तक लग सकता था। लेकिन असम्पृक्त विवेक को भला इसमें क्या कहना हो सकता था ? चीजें आती चली गयी और वह हटकर उन्हे स्थान देता चला गया। चूँकि उसे कही कुछ रुकावट नही होती थी तब भला चाहे वह एक्वेरियम हो, रेडियोग्राम हो, या और कुछ हो, कोई अन्तर नही पडता था। कमरे में यदि खुली हवा तथा विस्तार अनुभव होता है तब पर्दे चाहे किसी रग के हो या कितने ही भारी हों, डंडे में लगे है या बद ब्रेकेट्स में हैं, उससे विवेक को कोई फर्क नही पडता। और जब आपको भी इतने सजे-बजे कमरे में दूसरे अभ्यागतो की भाँति मात्र बैठना ही है तब फिर चिन्ता किस बात की ? दूसरों और आप मे यही न अन्तर है कि आप एक ऐसे अभ्यागत है जो बाहर से नही आये है। रहना चीजो को है, आप तो वहाँ कुछ देर के लिए, किन्ही अवसरो पर, बस, होते भर हैं। यह वानीरा का काम है कि कार्पेट और पर्दो का रंग मिलाती बैठे। विवेक ने शायद उन सारी चीजो को कभी पूरी तरह देखा भी नही होगा। कमरे में चीजें होने भर से क्या आप उन्हे जान जाते हैं ? क्या जानना ऐसे ही होता है ? वानीरा उन्हे जानती है इसलिए विवेक का निश्चिन्त हो जाना नितान्त अनिवार्य था। यदि वानीरा उसके कपडे न निकाल दे या कालीपद आवश्यक वस्तुएँ ला कर न दे तो विवेक को शायद पता ही नही चले कि कौन सी वार्डरोब है और कौन

सा उसका ड्रावर है ? विवेक बेडस्विच जानता है, अपना बिस्तर, जानता है। लेकिन अपने ही घर मे इतना मोटा-मोटा जानना हास्यास्पद हो सकता है परन्तु इसे अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है ? विवेक भी यह नही कह सकता कि वानीरा ने ऐसा करके उसे निरीह कर दिया है। बल्कि विवेक तक जानता है कि अब उसके पास काफी कुछ अवकाश एव मन.स्थिति होती है कि वह मेडिकल सबधो अधुनातन बातो, दवाइयो, चिकित्साओं से अपने को अवगत रख सके। विवेक को असन्तोष था भी नही और होना भी नही चाहिए वह इसलिए कि जब वानीरा ने स्वय ही अपने अनुसार व्यवस्था चलायी है, जैसा कि वह चाहती थी और उसमे विवेक को भी कोई स्पष्ट असुविधा नही थी, तब विवेक अपना बाहर का कार्यभार सम्हाले। जब कि वानीरा ने तो बाहर के भी कार्यभार मे उसे कई अवाछित बातों से, असुखकर स्थितियों से मुक्त कर दिया था। प्रायः रोज कही न कही जाना होता पर वानीरा ने सब इतना सुचारु कर रखा था कि कभी भी उसे कही जाना बोझ नही लगता है, तब विवेक को क्या कहना हो सकता है ? और क्या वानीरा नही जानती कि विवेक को इन बातो मे कोई रुचि नही है कि कौन सी चीज कब, कहाँ से और कितने मे आयी, चाहे वह रोहू मछली हो या कार्पेट खरीदना हो। तब वानीरा से विवेक भी नही आशा करता होगा कि सारे के सारे बिल उसे सुनाने बैठे जैसे ये भी कोई अखबार की खबरे हो, और फिर ऐसी फिजूल की बाते ले जाकर पति को सुनाते बैठना बड़ा मध्यवर्गीय ओछापन लगता है। बहुत हुआ तो पति यह पूछ ले कि रोडियोग्राम किस कम्पनी का है ? किस मेक का है ? और क्या। गृहस्थी मे इससे अधिक का हस्तक्षेप असन्तुलित ही कहा जाएगा। वानीरा को इसीलिए तो परम सन्तोष है कि विवेक अपनी मर्यादा तो निबाहता ही है पर सामने वाले की गरिमा पर जरा भी आँच नही आने देता। गृहस्थी का सन्तुलन, पति-पत्नी की प्रतिसदाशयता से आता है इसे विवेक और वानीरा दोनों डिब्रूगढ़ आने के बाद पूरी तरह समझ गये इसीलिए इतने कम समय मे कैसा इन्द्रलोक

जैसा आपस का व्यवहार, घर आदि हो गया है। घर में जैसे सारी चीजो के लिए स्थान है वैसे ही सारे घनिष्ट परिचितों के लिए भी यथा स्थान है। इसमे कुछ भी अतिरिक्त खोजना न्याय न होगा। क्लाइड आते है, जाते है, विवेक के भी सामने आते है, पीठ पीछे भी आते है। सामाजिकता का यह तकाजा होता है कि आप जिस तरह जाएँगे लोग भी उसी तरह आएँगे। इस सामाजिक आने-जाने को अतिरिक्त कोई और कहे पर विवेक को शिकायत करने का मौका वानीरा ने नही दिया।

पीली बिल्ली की तरह धूप वानीरा की गोद मे थी। फूलो का एक गुच्छा लता मे लटका हुआ उसके सिर के पीछे बड़े ही नाटकीय भाव से अनायास आकर लटका हुआ था। बाँस की झँझरी से निरभ्र नीलाकाश दिखने से अधिक मुसकराता लग रहा था। विवेक नाश्ता कर टाई की गाँठ ठीक करते हुए चलने की अंतिम तैयारी कर चुका था। वानीरा मोटी ऊन का बड़ा सा पुलोवर बिन रही थी।

— तुम्हे यह रंग पसन्द नही है विवेक ?

— नही तो, बहुत अच्छा है। बस जरा सा गाढ़ा मस्टर्ड है, वरना ... लेकिन तुमको इन दिनों इतना परिश्रम नही करना चाहिए।

— बिनने में भी कोई परिश्रम होता है ?

— पता नहीं। मै तो जब स्त्रियों को बिनते देखता हूँ तो मेरी अँगुलियाँ दर्द करने लगती है और तुम लोग हो कि चौबीसो घटे बिनती रहती हो।

विवेक को डिब्रूगढ़ आने के बाद से बराबर वानीरा का मुख, वानीरा का ही लगता रहा है। वानीरा ने रोज की तरह विवेक को पास बुलाकर पहले तो उसकी टाई ठीक की उपरान्त बटन-होल में ताजा गुलाब लगा दिया।

— वानीरा ! शीशे में कभी देखा है कि तुम इन दिनो कितनी सुन्दर लगती हो ?

—सुन्दर ? ओ बाबा !! बडा अजीब सा लगता है ।

— सच, मुझे गर्भवती स्त्री को देखकर बड़ा अच्छा लगता है । बडी ही मन्दाक्रान्ता छन्द लगती है ।

— ये सब हवाई बाते हैं ।

— यही कठिनाई है वानीरा ! पुरुष, जिस नारी-देह मे कविता देखता है, नारी के निकट उसका कोई अर्थ नही होता ।

— तुम तो शरीर-विज्ञान जानते हो फिर भी तुम्हे देह में कविता दिखती है ? — अच्छा अब देर हो जाएगी । — और हाँ, मेजर दास के यहाँ आज शाम चाय पर तुम्हे जाना है ।

— तुम नही चलोगी ?

— भला इन दिनो मै कही गयी हूँ ? नहीं, तुम अकेले ही हो आना। और वो — क्लाइड आएँगे तुम्हे ले जाने के लिए ।

— अच्छा ।

और धूप में जाती हुई विवेक की छाया को वानीरा देखती रही, जो कि उसके मन में बड़ी देर तक मँडराती रही । जब कि देह में कोई एक अपरिचित छाया थी जो कभी दाँये, तो कभी बाँये ऊबचूब करती लगती । कई बार तो डुबडुब आवाज तक उसे सुनायी पड़ती । विवेक को कई बार रात में जगा कर कहती कि 'लो सुनो, तुम्हारे बच्चे की धड़कन तक सुनायी पड़ रही है।' और विवेक वानीरा के पेट पर झुका, कान सटाये सुनने की चेष्टा करता रहा । अजीब तरह की जल की भरी-भरी आवाज वानीरा के पेट से उसे सुनायी पड़ती । कई बार कैसे हँसते हुए वानीरा कहती, 'लो, तुम्हारा बच्चा जाने कहाँ चला गया ।' और सचमुच वानीरा उसका हाथ दबाये अपने पेट पर ऊपर-नीचे घुमाती दिखाने लगती । जब बच्चा ऊपर चढ़ने लगता तो वानीरा कराह उठती । विवेक घबरा जाता और पूछता होता कि 'क्या बात है वानीरा ?' — और अजीब गरम फटे दूध सी टुकड़ों में मुसकराती

वानीरा कहती कि 'लडका है न, परेशान कर रहा है।' विवेक इस बारे मे क्या सोचता है यह स्वयं उसे अस्पष्ट था जब कि इस प्रकार की बातो मे नारी सोचती नही, अनुभव करती है।

मेजर दास की पार्टी मे क्लाइड ने विवेक का परिचय मेजर आनन्द मे करवाया। साँचे ढली आर्य-देह एवं व्यवितत्व का मेजर आनन्द उसे समुद्रगुप्त की सेना का एक व्यक्ति अधिक लगा बनिस्बत आज के। अपने आचार एव व्यवहार को उसने कलदार मुद्राओ की भाँति विशिष्ट कर रखा था। उसे देखकर विवेक को यही लगा कि यह व्यक्ति भूल से मिलिट्री में चला गया है। यद्यपि थोड़ी ही देर में लोगो से मेजर आनन्द के शराब पीने के किस्से, उन्मुक्त जीवन यापन का दृष्टिकोण आदि थोड़ा बहुत मालूम हो गया पर विवेक उन पर अधिक नही विश्वास सका। क्योकि विवेक बराबर उसे एक पुरातत्वी के रूप मे ही ग्रहण कर सका और लगभग उसी ढंग की बातचीत भी उन दोनो मे होती रही थी। विवेक के ऐसा मानने के पीछे थोड़ा कारण भी था, क्योकि आनन्द बराबर उससे पूर्व वैदिक संस्कृति एवं इतिहास के बारे में चर्चा करता रहा था। जो लोग सस्कृति के नाम पर अजन्ता, एलौरा, सारनाथ, बुद्ध आदि की चर्चा करते है उनकी ओर मेजर आनन्द बडे ही विस्मयादि-बोधक ढंग से मुसकराता हुआ देखने लगता जैसे कोई चौथी कक्षा का विद्यार्थी उसके सामने खड़ा हो। इन दोनों को व्यस्त देख क्लाइड और दास दोनो ने उनके वार्तालाप मे हस्तक्षेप करने के लिए क्षमा माँगी तथा मेजर दास बोले,

—कहिए मेजर आनन्द ! तो आपने अपने इतिहासकार के लिए डाक्टर विश्वास मे एक श्रोता पाया कि नही ?

— श्रोता ? डाक्टर विश्वास की तो इतिहास मे खासी गति है।

और मेजर आनन्द के मुसकराते मुख में सटे, सफेद दाँतों की चमक

कौंधी और ओठ वक्र, मुसकराते थिर हो गये । यह मेजर आनन्द की हँसी थी । बड़ी मूर्तिवत हँसी हँसता था वह । विवेक बोला,

— मै और इतिहास ?

— क्यों ? आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे डाक्टर इतिहासज्ञ नहीं हो सकता ।

मेजर दास नें डाक्टर विश्वास की बात पर टिप्पणी करते हुए काजू की प्लेट सामने बढ़ायी । सभी ने निःशब्द भाव से काजू उठायी । दास फिर बोला,

— क्या मेजर आनन्द को देखकर इनके इतिहासज्ञ होने की कोई कल्पना कर सकता है ?

— किसी आर्य-मूर्ति की कल्पना ही नहीं वरन साक्षात अनुभव कर सकता हूँ ।

विवेक की बात पर अप्रेरित रूप में असंग बना मेजर आनन्द खड़ा रहा । उपरान्त बहुत धीमे बोला,

— क्लाइड साहब कह रहे थे कि आप बहुत अच्छे मूर्तिकार भी हैं ।

— वास्तव में क्लाइड साहब हम लोगों के साथ बहुत पक्षपात करते हैं ।

विवेक की बात पर दास बोला,

— यह तो मै नहीं मान सकता डाक्टर विश्वास ! कि मिस्टर क्लाइड आपके साथ पक्षपात करते होंगे । अँग्रेज यहाँ टिका ही इस बात पर है कि वह पक्षपात नहीं करता ।

अनायास मेघ घिर आये थे, किसी सीमा तक अप्रत्याशित भी कहा जा सकता था । वैसे गत कई दिनों से आकाश तथा मौसम साफ रहा है तथा वर्ष के इन दिनों में मौसम साफ ही रहता है । क्लाइड ने बड़े मौके पर बहकती चर्चा को मौसम की चिन्ता की ओर मोड़ दिया,

— वैसे मार्च में वर्षा होती तो नही है पर देखिए कैसे बादल घिर आये हैं ।

और फिर थोड़ा हँसते हुए बोला,

— कहिए मेजर आनन्द ! आप सोचते है कि वर्षा होगी ?

अभी कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही दो चार बूँदें टपक उठीं। वैसे किसी ने कोई उत्तर नही दिया पर सभी लगभग हँस पडे। क्लाइड बोला,

— लेकिन कैसी अजीब बात है कि बात मैने मेजर आनन्द से पूछी थी और बादलो ने सुनकर तुरन्त जवाब दिया।

लेकिन मेजर आनन्द ने अपने क्लासीकल मौन रहने की आदत को नहीं छोड़ा। अभी सब हँसने ही वाले थे कि बड़े मुलायम ढंग से आनन्द बोला,

— जिसकी बात उसी से पूछी जानी चाहिए मिस्टर क्लाइड !

उपस्थितों में शायद सभी मौसम को लेकर चिन्तित लग रहे थे कि मेजर दास के एक अर्दली ने विवेक को सूचना दी कि कालीपद एक जरूरी काम से आया है। विवेक किंचित चिन्तित अवश्य हुआ। कालीपद ने बताया कि बहू-माँ के पेट मे बडा दर्द हो रहा है, अस्पताल पहुँच गयी है। विवेक ने क्लाइड को परिस्थिति बतायी और असमय जाने की क्षमा याचना कर वह क्लाइड को साथ लेकर बिदा हुआ।

बूंदाबाँदी रास्ते मे ही तेज हो गयी थी। बहुत देर तो नहीं हुई थी पर फिर भी नौ तो बज ही रहा था। वैसे प्रसव के बारे में पहले ही सारा प्रबंध करवा दिया गया था। जिस समय ये दोनों वार्ड में पहुँचे तो वहाँ मालूम हुआ कि लेबर-रूम के लिए ले जाया जा चुका है। लेबर-रूम के सामने के लम्बे गलियारे में मेट्रन ने उन्हें खड़ा कर दिया कि अभी वह सारी स्थिति से अवगत कराती है। थोड़ी ही देर में मेट्रन के साथ बड़ी ही विपन्न अवस्था में विवेक ने वानीरा को देखा। वह बरामदे के सिरे पर मेहराब की बत्ती के नीचे एकवस्त्र में खड़ी थी। उस क्षण वह जिस ढंग से खड़ी थी, तथा वस्त्र भी जिस तरह अस्त-व्यस्त लिपटा था उसमें विवेक को बड़ी वितृष्णा हुई। वह जिस ढंग से दीवार का सहारा लेकर चलती हुई आयी थी वह और भी

— मुझे इस रूप में देख तुम्हें अच्छा नहीं लगा न ?
— नही तो ।
और विवेक अपने को, अपनी दृष्टि को वैसे ही समेटने लगा जैसे किसी ने उल्टी लटकी बाहर निकली जेब को देख, टोक दिया हो । विवेक की इस झूठ पर वानीरा बड़ा फीका सा मुसकरा दी ।
— मिस्टर क्लाइड भी है न ?
— हाँ, तोऽऽ कब तक संभावना है ?
— कम से कम रात में तो नहीं ही । तुम चिन्ता न करो । कालीपद यही रहेगा । सब प्रबंध ठीक है । तुम जाकर आराम करो । कोई बात होगी तो खबर कर दी जाएगी । — मिस्टर क्लाइड से मेरी ओर से क्षमा माँग लेना कि ऐसे में मिल सकना संभव न था ।
दोनों क्षण भर के लिए चुप हो गये । वानीरा जाने क्या तौलती रही। बोली,
— सच बताओ, तुम्हें यहाँ अच्छा नहीं लगा न ?
— क्या तुम पागल हो ? ये सब फिजूल की बाते सोचने का समय है क्या ? — वानीरा ! घबराना मत — लेकिन जाने क्यों वानीरा ! मुझे लगता है दिस इज एन इन्सल्ट टू द वुमनहुड ।
वानीरा हँस पड़ी । हँसते हुए वह इस समय कितनी उदार लग रही थी । बोली,
— नही, ऐसा नही है । — शायद इसीलिए नारी को पुरुष से हर बात के लिए पर्दा करवाना सिखाया गया क्योंकि सम्पूर्ण नारी को, उसके सारे कार्यों को, यातनाओ को और तो और सुख के प्रकार तक को पुरुष कभी भी नही समझ सकता । — अच्छा, यदि बच गयी तो फिर
— क्या मतलब ?
— क्यों ? स्त्री के लिए यह कोई रूमानी स्थल थोड़े ही है विवेक ! जन्म लेने वाला कभी-कभी जन्म देने वाले की बलि ले लेता है । अब तुम प्रेम, विवाह, दाम्पत्य जीवन का अर्थ समझे होगे । और अभी भी बहुत कुछ दर्शकोय यही समझे होगे । वास्तविकता की

कल्पना भी नहीं कर सकते हो। — खैर तुम्हें पेड़ से नहीं आम से मतलब होना चाहिए। — अच्छा अब जाओ।

— लेकिन तुम विश्वास दिलाओ कि घबराओगी नहीं। और तुम हर हालत में ठीक रहोगी।

वानीरा इस बार उदार ही नहीं विराट मुसकरा रही थी। प्रसूता की पवित्रता पुरुष के सारे पुण्यों से भी अधिक दिव्य होती है।

— अच्छा !!

वानीरा अपनी देह, देह-धर्म, स्थिति सब में लौटती हुई विदा दे रही थी। विवेक आकुल था पर सिवाय इसके वह और हो भी क्या सकता था ? जिस नारी को सहभोगा जाता है वह बाद मे उस सुख को एकांत पीड़ा में निवारण करने के लिए शेष रह जाती है। उसे अब अपने पर, उस भोग-सुख पर जुगुप्सा थी, लेकिन कितनी मिथ्या थी।

सवेरे डिसपेन्सरी जाने के लिए रोज की अपेक्षा जल्द तैयार हो गया। रात भर वह सो न सका। वानीरा की चिंता तो थी ही पर वानीरा की अनुपस्थिति ने घर को रीता कर दिया था। घर की चीजे तक विमन लग रही थी। कही कुछ करने के लिए था ही नही। बड़ा खाली-खाली सा लगा। और वह भी रात भर लगभग एक चीज की तरह ही घर मे अपने को अनुभव करता पड़ा रहा। वैसे उसे किसी भी क्षण कालीपद के आने की आशा रही। सवेरे जब महाराजिन ने उसे चाय के लिए जगाया तब उसे लगा कि वह रात में शायद सोया ही नही था।

सवेरे अस्पताल में ड्युटी पर आयी नयी मेट्रन ने बतलाया कि काफी देर से लेबर-रूम में श्रीमती विश्वास है। बच्चा होने मे कठिनाई थी क्योंकि दो बाल्टी पानी पेट से जा चुका था इसलिए 'प्रेशर' तो अब रहा नहीं। जच्चा को जितना 'एक्यूट पेन' होना चाहिए वैसा नहीं हो

रहा था इसलिए कहा नहीं जा सकता कि कब तक बच्चा हो तथा संभव है कि ज्यादा देर होने पर आपरेशन करना पड़े। यह जान कर कि अभी तीन चार घंटे तो बच्चा नही ही होगा, वह गया ताकि जरूरी केस निबटा कर जल्द हो लौट आये। यदि साथ में क्लाइड न होता तो वह अवश्य ही बहुत घबरा गया होता।

अस्पताल मे बैठे-बैठे दोनो उकता गये थे इसलिए बाहर खुले में निकल आये। सवेरे ग्यारह का समय था पर अस्पतालों पुलिस थानों में आदमियों के होते हुए भी बड़ी वीरानगी सी होती है। गुलमुहर के पेड़ों के नीचे रखी बेंचों पर लोग प्रतीक्षा करते बैठे थे। एक खसिया बूढ़ी स्त्री शायद अपनी बहू के बच्चा होने की प्रतीक्षा में कल से अस्पताल में पड़ी हुई थी। एक व्यक्ति को घेर कर लोग किसी बच्चे के होने की दुर्दान्त कहानी सुन रहे थे कि कैसे बच्चा आँतों में फँस गया था तो उसे काट-काट कर निकाला गया। चारों ओर ऐसी ही बाते हो रही थी। दूरी पर एक बड़े से हण्डे में अस्पताल की जमादारिन पानी गरमा रही थी और वहाँ औरतों की भीड़ थी। जमादारिन बड़े ही जोरों से अश्लील ढंग से बातें करते हुए कम पानी खर्च करने के लिए लोगों पर चिल्ला रही थी। रात वाला ही दृश्य था। औरते वैसी ही विपन्नावस्था में लेबर-रूम के आस-पास पेट पकड़े चीखते-चिल्लाते घूम रही थी। पर रात में जैसा आर्त भयानक लगा था वैसा तो इस समय नही लगा, हाँ, असहनीय अवश्य था।

आकाश में छुटपुट बादल थे पर धूप छिटक आयी थी। अनायास रात की वर्षा हो जाने से मौसम कुछ ठण्डा हो गया था। जब ज्यादा देर होने लगी तो विवेक ने आग्रह कर क्लाइड को लौटा दिया। क्लाइड ने इसी शर्त पर जाना मंजूर किया कि सभी परिस्थितियो से उसे अवगत किया जाए तथा गाड़ी और ड्राइवर अस्पताल के बाहर रहेंगे। लगभग दो बजे डाक्टर आयी और उसने विवेक से आपरेशन के लिए कहा। विवेक ने स्थिति की गंभीरता समझ अस्पताल के कागज-पत्रों पर हस्ताक्षर कर दिये और धुकधुकी लिये वापस जा कर एक बेंच पर बैठ

गया। जाने क्यों उसे एक अव्यक्त बेचैनी अनुभव हो रही थी। चिन्ता वानीरा की ही हो सकती थी, उस अनजान शिशु के लिए तो क्या हो सकती थी जिससे कोई रागात्मिका हो ही कैसे सकती थी। जाने क्यों उस खुलेपन मे, लगभग निरभ्र आकाश मे, चिटख धूप मे प्रार्थना करने को मन हो आया। अनायास ही उस अनजान शिशु से संबध स्थापित कर उसे सम्बोधित कर वह एक नाटकीय कविता या प्रार्थना अपने मे बुदबुदाता बैठा रहा,

आओ,
आओ मेरे पुत्र ! जन्म लो।
हमें नयी संज्ञाएँ देने के लिए तुम आ रहे हो।
तुम्हें नही मालूम
माँ, दर्पण होती है।
ऐसा दर्पण
जिसे खण्डित नहीं होना है।
तुम एक धूप, एक बादल, एक ऋतु की प्रज्ञा बनकर
आओ,
आओ मेरे पुत्र ! जन्म लो।

लगभग इन्ही पंक्तियो को बहुत कुछ ऐसे ही विवेक दुहराता हुआ हर क्षण किसी भी अघटित की प्रतीक्षा मे बैठा था। उसकी आँखो के आगे विपन्न बनी वानीरा आपरेशन मुद्रा मे लेटी हुई थी। लेकिन आपरेशन करते हुए उसके हाथ यह नही निर्णय कर पा रहे थे कि बच्चा ... और बारंबार बच्चे तक आते उसका आपरेशन अधूरा रह जाता था कि तभी नर्स दिखलायी दी। संकेत से उसने बताया कि बच्चा मरा हुआ निकला लेकिन जच्चा पर कोई संकट नही है। विवेक स्वयं यह लिखकर दे चुका था कि सकट की स्थिति मे जच्चा को ही बचाया जाए। पता नही नर्स की बात उसने सुनी कि नही।

— क्या वह आपरेशन थियेटर मे है ?

— हाँ, अभी बेहोश है। आप दो घटे बाद आ जाइए।

तभी नर्स किसी की पुकार पर बड़ा सफेद-सफेद सा खट्-खट् करती चली गयी ।

जिस समय वह अस्पताल पहुँचा तो क्लाइड भी साथ ही था । अस्पताल मे यह समय मिलने वालों का था । बड़ी ही फुलकारी लग रही थी। इस समय तक विवेक काफी कुछ सोच चुका था । उसे वानीरा के प्रसव की निरर्थक पीड़ा, उसके भोग का पछतावा था । यदि किसी पीड़ा को मात्र वन्ध्या ही होना है तो उसे भोगते समय उतनी पीड़ा नही होती जितनी कि उस पीड़ा के बीत जाने पर । कम से कम विवेक को यही लग रहा था और जब विवेक को ऐसा लग रहा था तो क्या भोक्ता वानीरा को ऐसा नहीं लग रहा होगा ? शायद सोचने के इसी क्षण पर वह वानीरा के कमरे में पहुँचा था । सब बड़ा सफेद-सफेद था केवल पैताने तहाया हुआ लाल कम्बल खूब उभर आया था । बड़ी ईर्ष्यालु शांति थी । लगभग अठारह-बीस घंटे के शारीरिक संघर्ष के बाद मुख पर हल्दी पुती हुई थी । रात भर खूब बजाये गये वाद्य की सी उस मुख पर थकान ही थकान थी । कुर्सियों की हल्की सी आहट पर बिना हिलेडुले वानीरा ने केवल निःशब्द पलकें खोलने की चेष्टा की । संभवतः इस समय वह विवेक के यहाँ होने के प्रति आश्वस्त थी — इसीलिए सफेद चादर में से गोरा पतला हाथ बड़े ही सायास भाव से सरकता हुआ दिखलायी दिया । नर्स ने उसे सूचित किया । विवेक खड़े होकर उसे देखने लगा । दर्द की ही यह विशेषता होती है कि न कहने पर तो कितने पास खड़े व्यक्ति तक को उसकी क्षीणतर आहट नहीं हुआ करती । जब कि भोक्ता, पीड़ा के सोच में डूबा वेदना मूर्त हुआ रहता है ।

— वानीरा !

और अनजाने ही उसकी आँखें छलछला आयी । विवेक को पूर्ण बोध

हो गया कि वानीरा क्या भोग रही है। वानीरा का हाथ उसके हाथों में आकर अपनी सम्पूर्ण विवशता में ठहरा हुआ था। विवेक की आवाज पर कितनी चेष्टा से वानीरा ने पलके खोली थी। इसका कितना प्रभाव विवेक पर हुआ क्या किसी दिन भी वानीरा बूझ पाएगी ? कौन किसके अन्तर को बूझ पाया है ? वानीरा ने मात्र देखा। शायद यही बोलना भी था। उसके मुख पर कोई भाव नही था। शायद चरम भोक्ताओं के मुख भावहीन हो जाते है।

— मिस्टर क्लाइड को देखा ? ये देखो सिरहाने खड़े हैं।

पलकें और पीछे ले जाने की वानीरा ने चेष्टा की। क्लाइड शायद वानीरा की कठिनाई समझ ले गया और वह पलँग को दूसरी तरफ विवेक के ठीक सामने खड़ा था। क्लाइड जिस भाँति देख रहा था उसमें एक प्रशंसक का देखना था।

— आपकी कैसी तबीयत है अब ?

पुतलियों ने जरा सा काँपकर अपने अच्छे होने, प्रश्न पूछने की कृतज्ञता आदि सब व्यक्त कर दिया। पर इतने देखने में ही वे पलके थक उठी। कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। वैसे कैसे कहा जाता कि कमरे में बडा भारी शोर हो रहा था जो कि इस समय नही रहा। दो चार वाक्यों का बोला जाना क्या शोर होता है ? शायद नही, लेकिन वानीरा की पुतलियों का जो सामना था वह किसी हाहाकार से कम था ?

विवेक वानीरा की व्यथा, मनस्ताप सब बूझता है। इसीलिए वह अधिक सतर्क भी है। वानीरा जिस प्रकार उदास हो गयी है उसे भी वह सकारण मानता है। जब व्यक्ति सारे भोग भोगने के बाद भी रोता ही रह जाए तब उसका अन्तर तक हड्डियों की भाँति ही चूर-चूर हो जाता है। इसीलिए रात मे सोती हुई वानीरा के जरा से चौंकने पर विवेक का हाथ एकदम बेड-स्विच पर ही जाता है। वह अगर

अपने में तन्मय बनी बैठी है तो उसे कोई बात सहसा न कही जाए, इस बात को नौकरों तक को बता दिया जा चुका है। जरा सी आँधी-की संभावना हो तो विवेक उसे बाहर से भीतर लिवा लाता है या खिडकी खुली हो तो अपने हाथों उसे बन्द कर देता है।

अब वह पूर्ण स्वस्थ ही नही बल्कि पहले की अपेक्षा अधिक भर गयी है। पर साथ ही एक अजीब उदासी पाल ली है। किसी बात में जैसे रुचि नही रह गयी है। यदि किसी दिन विवेक ने बहुत आग्रह किया तो बहुत हुआ बाँध तक हो आयी। वानीरा जानती है कि उसे अंजलि के जल की भाँति ही सदा सतर्क होकर धारे रहने की आवश्यकता है पर वह अपने को नही समझा पाती है। उसे अपने से वितृष्णा हो गयी है जो घोषित रूप मे छोटी से छोटी बात मे चिढ़ के रूप मे अभिव्यक्त होती है। रेडियोग्राम का न्यूनतम स्वर भी शोर लगता है। पर्दों मे लगे घुँघरुओ की आवाज नौकरो के आने-जाने से कैसी कठोर लगती है। उसका बस चलता तो वह दीवारहीन कमरो में ही रहती वर्ना कैसे सिर पर ये दीवारे धँसी पड़ती है। इनसे यह नही होता कि हम जब चाहे तो थोड़ा दूर हो जाएँ। नही, जब देखो तब कमर कसे अर्दली सी खड़ी है। भला ऐसे में कोई कैसे निश्चिन्त होकर बैठ ही सकता है। और जब निश्चिन्त बैठना नही होगा तब भला सोचना कोई क्या खाक करेगा ? — और ऐसी मनस्थिति मे झरती पीली पत्तियो का खिड़की से आकर कमरे में गिरना कितना बुरा लगता है न ? सब कुछ हो, पर दूर-दूर हो तो बड़ा अच्छा लगता है। खिड़की से दिखती हिमालय की नील श्रेणियो से भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी ? कैसे अपनी तथा देखने वाले दोनो की मर्यादा रखते हुए दूर-दूर बनी रहती है। इनका वैराट्य न तो सिर पर ही आता है और न ही बोझ लगता है। बहुत पास होने पर क्या सम्बन्ध, क्या स्थितियाँ, क्या चीजे सभी तो टकराती है। हमारे निकट अपनी ऊँचाई के अतिरिक्त दूसरे की ऊँचाई सिर पर आती लगती है, बोझ लगती है। दूरी पर खड़ी कैसी ही विराटता को हम इसलिए सहन कर पाते है क्योकि उसकी अतिरिक्त

ऊँचाई, दूरी में विनष्ट हुई रहती है।

केवल एक ही बात, विचार बारम्बार मँथ जाता है। पहले जब वह मूर्त था तो देह के भीतर गुनमथान करता रहता था और अब जब वह अमूर्त होकर विचार बन गया है तो पूरे स्वत्व को पके फोड़े सा दर्द देता रहता है — जिसकी धड़कन को वह उन दिनो छूकर देख सकती थी, अपने ही भीतर उस धडकन को यहाँ-वहाँ, पसलियो के नीचे, पेट के गहरे अन्तराल मे तिरते अनुभव कर लेती थी और अपने भीतर यात्रा करती उस धड़कन को वह अपने पैरों को धीमे-धीमे रखकर कैसे नरम-नरम सहेजे रखती थी। बैठते हुए तब कैसा एक समग्र दाय का अनुभव होता था कि जैसे वह अपने साथ किसी और का भी बैठना कर रही है। अपने मे वह पूरे रूप मे दो हो गयी थी। अहोरात्र अपने भीतर एक लोक को वहन करने की अनिर्वचनीयता कैसे अपनी इन्द्रियों मे अनुभव होती। बस उन दिनों कुछ भी तो करने को मन नही करता था केवल वह अपने ही पेट में जैसे जा बैठती और यात्रा करते, तिरते उस पिण्ड को गर्भजल में उतरते तिरने देखती होती। इसी अर्थ में शायद नारी रहस्य होती है पुरुष के लिए और इसे ही वह कभी नहीं जान पाता। बल्कि जो जान पाता है वह इतना अरूमानी होता है कि पुरुष केवल वितृष्णा होने के और कुछ हो भी नही पाता। यह केवल पुरुष ही कर सकता है कि आज वह विलास मे आसन्न है तो कल वह वीतरागी बना परिव्राजक है। बिना परिक्रमा के पुरुष नहीं रह सकता भले ही वह पत्नी की हो या पृथ्वी की। बस, ऐसे ही, या ऐसा ही सोचते बैठे रहना, केवल बैठे रहना थोड़ा अच्छा लगता है अन्यथा जरा सी चेतना होने पर ही वानीरा को यह खाये जाता कि हाय — क्या वह किसी चेतन के स्थान पर शव को उन दिनों अपने भीतर धारे रही थी? क्या वह विगत था, अनागत नही? क्या वह मृत्यु था, प्रजा नही?

कैसे वह उस रात कराहती रही थी। पर 'एक्यूट-पेन' होता ही नही था। इंजेक्शन से भी कोई लाभ नही हुआ था। उसका चिल्लाना

फूट ही नहीं रहा था। जब वह 'लेबर रूम' में टेबल पर लेटी हुई थी उसे पूरी चेतना थी कि ब्लेडर के फट जाने से सारा पानी बह रहा है। बाल्टी मे गिरते पानी की आवाज तक उसने सुनी थी। नर्स कह रही थी कि वह चिल्लाती क्यों नही? जोर क्यों नही लगाती? — पर कैसे? उसने अपनी मुट्ठियाँ कस कर जोर लगाया था। गिरते पानी के साथ देह की शक्ति भी जैसे टपककर गिर रही थी। नर्स ऊपर साँस खेंचने के लिए मना कर रही थी। जब कि वह ऊपर साँस खेंच ही नहीं रही थी — और तब वह मूर्च्छित हो गयी थी — पार्टीशन के पार दूसरी टेबल पर लेटी हुई स्त्री के बच्चे के रोने की आवाज से उसे चेत हुआ था। पार्टीशन के पास स्त्री की कराह अब सन्तोष की कराह थी। वह अपने बच्चे को बारंबार संबोधित करते हुए प्रार्थना वाले बुदबुदाते ओठों से पुकार रही थी कि वह बाहर आ जाए। — 'बहुत हुआ', 'अब वह सहन नहीं कर सकेगी', पर चीख नहीं निकल रही थी। पार्टीशन के पार वाली औरत 'ओ माँ' करके जिस तरह चीखी थी वैसे ही वह भी चीखना चाह रही थी ताकि वह स्वयं माँ बन सके, पर उसके हाथ-पैर, संज्ञा, देह सब इतने पीड़ामय हो गये थे कि उनमें कोई चेतना ही नही रह गयी थी। केवल अजीब सा जलभरा सा भाव-बोध देह तथा इन्द्रियों तक में फैल गया था। — पानी निकल जाने के बाद वह निश्चेष्ट अतंद्र बनी कहीं अपने ही में लीन थी। केवल डाक्टर तथा नर्स की आवाज अस्पष्ट में सुनायी पड़ रही थी। शायद उसने सुन भी लिया था कि डाक्टर अब देर करने के पक्ष में नही थी। पानी निकल जाने के बाद प्राकृतिक प्रसव हो सकने की संभावनाएँ नही रह गयी थीं क्योंकि जच्चा में शक्ति बिल्कुल भी नही रह गयी थी। थैली के फट जाने से बच्चे को भीतर कोई आधार नही रह गया था। डर था कि कही आँतों में उलझ कर बच्चा समाप्त न हो जाए। — डाक्टर ने उसके पेट पर अपना कान रख कर बच्चे की धड़कन सुनने की चेष्टा की थी — और जब आपरेशन किया गया तब वह मूर्च्छित थी। — वह चेतना में जिस समय लौटी

तो दर्द की एक तेज लकीर आद्यन्त दौड़ गयी और वह मूच्छित होते-होते बची थी। जब दो-चार बार में वह दर्द की अभ्यस्त हुई तो पहला विचार उसे अपने बच्चे का आया। अपने पास उसने हौले से हाथ उठाकर देखना चाहा कि उसका बच्चा आराम से तो है न? कैसा है? जैसी उसने कल्पना कर रखी थी वैसा ही है न? लड़का है या लड़की? जब हाथ से टटोलने पर दोनों ही ओर रिक्त लगा तो वह किंचित घबरायी थी। सिरहाने रखे पालने में वह उत्सुक होकर देखना चाहने लगी। पर अभी वह जरा सा हिलकर देखे इस चेष्टा मात्र से उसे जो दर्द हुआ उसकी परिकल्पना से वह आज तक सिहर उठती है। उसे किंचित हिलते देख नर्स चौकन्नी हुई थी। नर्स के लिए उसके मन की आकुलता जान लेना बिल्कुल स्वाभाविक था। लेकिन वानीरा के लिए नर्स का मात्र भावहीन खड़े रहना ही सारी स्थिति को समझ ले जाने के लिए काफी था। उसने पलकें ऊंची कर पालने के सूनेपन को दो-एक बार जाने किस प्रत्याशा से बल्कि विवशता से देखा और तब वह कटे पेड़ सी अरहरा कर अपने ही भीतर टूटती चली गयी थी। वह शायद तब वास्तविक मूच्छित हुई थी। दर्द अब अनन्तमुखी हो उसकी शिरा-उपशिराओं में फैल कर सदा-सदा के लिए घर कर गया था। वह संभवत: रोना चाहती रही पर उसमें किसी भी बात की शक्ति नहीं रह गयी थी बल्कि वह दर्द, आँसू या सारी क्रियाओं से परे मात्र एक स्थिति भर था।
केवल एक ही विचार से उसे अनहल किया लगता कि क्या वह अपने में किसी शव को ही लिये दर्द भुगतती रही है? क्या वह कभी जीवित नही था? उसने अनेक रातों उसकी धड़कने सुनी है। धड़कनें ही नही उसने अपने बच्चे से बाते तक की थी। और बच्चा उसकी बातें सुनने के लिए कैसे ऊपर चढ़ आता था और फिर कैसा खिलखिलाकर नीचे, बहुत नीचे, किसी अनंत गहराई में तैर जाता था। विवेक को बच्चे की धड़कनें सुनायी हैं। वानीरा ने स्वयं अपने बच्चे के हाथ, पैर, सिर तक अनुभव किया है। उसका बच्चा शव कभी नहीं हो सकता था।

उसने नौ माह किसी मृत्यु को अपने में नही धारण किया । वह प्राण था । उसके देह थी । वह देह, जिसे रचने के लिए एक-एक पल वह कैसे उसे ऊने ऊने सेती रही थी । — और आज वही...

वानीरा कमरे में अकेली बैठी, खिडकी से नील पर्वतमाला देख रही थी । बड़ा ही धूप धुला प्रशस्त फैलाव इस तीसरे पहर में उभर आया था। जून का अन्तिम सप्ताह था । गर्मी काफी प्रखर थी । बादलों के घिरने की संभावना शुरू हो गयी थी । दो-चार बार बरस जाये तो संभव है गर्मी कुछ कम हो । कम तो क्या होगी, भभकेगी ही अधिक पर जब बरसने लगेगा तो एक न एक दिन तो ठण्ढक हो ही जाएगी । दिन भर पखे की हवा से घबराकर वह इस समय खिड़की खोल अपने से बचने के लिए बैठी थी । पढती है । दिन भर पढ़ती ही रहती है । पर उसे इन किताबो और लेखको पर हँसी आती है । पता नही जाने किस कल्पना लोक के चरित्रों की ये बाते करते है । नारी के बारे में लिखेंगे तो बड़ा ही मीठा-मीठा सा आदि से अन्त तक लिख कर हर पुरुष को जिज्ञासु बना देगे कि जैसे नारी न हुई कोई रसगुल्ला है कि पाने, खाने और खाकर अपने भीतर तक केवल मिठास का ही अनुभव करे । और वह प्राय: झल्लाकर किताबे, पत्रिकाएँ फेंक देती रही है, बस एक ही बात — वही मिथ्यात्व । स्त्री वही है, कभी उसे चौरंगी पर ले जाकर लेखक रोमांस करवा देगा तो कभी दार्जिलिङ की किसी बर्फीली चोटी के परिपार्श्व मे खड़ा कर उसे सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित कर देगा। जैसे नारी का अपना तो कोई स्वत्व है ही नही। पहले भी नहीं था । पहले वह समर्पिता बनी पति के चरणों मे धूलधूसरिता थी तो आज चुस्त पंजाबी कुरते-सलवार मे बड़े ही समेटे-समेटे अपने को उत्सर्गित ढंग से लिये हुए खिलौना बनी घुमायी जा रही है । क्या कभी उसे वैसा ही गौरव पुरुष देगा जो दो पुरुष आपस में देते है ? उसे स्त्री जाति पर ही चिढ़ हो आयी कि कभी वह कपड़ों में इतनी खो गयी थी कि बस, और आज वह कपड़ों के बाहर फूटी पड़ रही थी । अपने अंगों की तरह स्वयं भी कोई सन्तुलन नही रख पाती ।

शायद वह इसी तरह फिजूल का अपने पर रोज ही की तरह चिढ़ती बैठी रहती और कालीपद चाय ले आये इसकी प्रतीक्षा करती रहती पर विवेक के हँसने की आवाज सुनायी दी। वह चौंकी। आज असमय विवेक कैसे ? शायद कोई साथ में है। कौन है ? कलाइड तो नही ही लगता, तब ?

— वानीरा !

उसने मात्र उन्मुख होते हुए विवेक की ओर देखा।

— कई दिनों से मै चाह रहा था कि मेजर आनन्द से तुम्हारा परिचय हो जाए।

— कौन मेजर आनन्द ?

— अरे वही जिनके बारे में बताया था न तुम्हे कि जो मुझे मेजर दास की चाय पार्टी में मिले थे, जो इतिहास में काफी रुचि रखते हैं ?

— हाँ, याद आया। तो ?

— अभी मुझे रास्ते में मिल गये तो साथ लिवा लाया।

— रास्ते में ?

— हाँ, वो गोविन्दराम फर्म के मैनेजर शाह हैं न, उनकी पत्नी को देखकर लौट रहा था।

— क्या हुआ श्रीमती शाह को ?

— हिस्टीरिक पेशेन्ट है। — तो तुम तैयार हो जाओ। मेजर आनन्द को ड्राइंग रूम मे बैठा आया हूँ।

वह अनुत्तरा उठ आयी। कभी कोई दूसरा दिन होता तो वह झल्ला पड़ती। वह अपने जल को अनछुआ ही रहने देती पर आज वह दिन भर इतना स्वतः रही थी कि उसे अपने जल से बाहर निकल उठने की अकुलाहट होने लगी। यह उसके अन्तर में था यद्यपि बाहर वह वैसी ही अप्रयोजित, अलस बनी उठी, और तैयार होने के लिए चली गयी जैसे एक आँसुओं में डूबा उदास क्षण, जो अभी अभी यहाँ था और अभी ही उठकर कहीं चला गया।

जिस समय वह सुषमित होकर ड्राइंग रूम में पहुँची विवेक और आनन्द इतिहास पर चर्चा कर रहे थे। शायद पुष्यमित्र शुग की प्रशस्ति मे मेजर आनन्द इतिहास के पन्नों पर दौड ही नहो रहा था वरन स्केटिंग कर रहा था। आनन्द के बात करने का ढग बडा ही मंद, गंभीर किन्तु संयमित आवेश वाला था। वह बोलते हुए लिखता मालूम देता था।

— डाक्टर विश्वास! अभी अभी कुल सौ वर्ष पहले बौद्ध अशोक का धर्म-प्रयास बीता था। कलिग में, अशोक के आक्रमण के बाद पुनर्जागरण आया और वहाँ सम्राट खारवेल जैसा प्रतापी सम्राट हुआ। ठीक इसी समय मौर्य साम्राज्य की बागडोर निर्वीर्य बृहद्रथ के हाथों में आयी। पुष्यमित्र शुँग इसी का सेनापति था। समझ रहे हैं न कि इतिहास की किस दुरभि में एक अमागध, एक ब्राह्मण, मात्र एक सेनापति एक दिन सारी जनता की उपस्थिति में, सेना के परामर्श से बृहद्रथ का वध कर देता है। इसका अर्थ हुआ विवेक बाबू? कि पाटलीपुत्र की जनता में अशोक के द्वारा बौद्धों को दिये गये प्राधान्य से असन्तोष था और वही असतोष पुष्यमित्र के हाथो में खड्ग बना।

वानीरा ठीक इसी वाक्यांश पर प्रविष्ट हुई थी। और हँसते तथा प्रणामते बोली,

— कौन किसके हाथों में खड्ग बना?

मेजर आनन्द ने खड़े हो प्रति-नमस्कार करते हुए कहा,

— एक सामाजिक असन्तोष एक व्यक्ति के हाथों में असंतोष बना श्रीमती विश्वास। — मुझे आनन्द कहते है।

— अभी आप बौद्धों की ही तो चर्चा कर रहे थे? — इसलिए कौन से आनन्द है आप?

और तीनों हँस पड़े। कालीपद चाय ले आया था। वानीरा चाय बनाने लगी।

— मेरे आने से आपकी इतिहास-चर्चा रुक गयी न?

— नही ऐसी तो कोई बात नही।

— सुनती हूँ इतिहास आपको काफी प्रिय है।

तभी विवेक ने चाय का कप वानीरा से लेते हुए कहा,

— प्रिय ? इन्हे तो इसका व्यसन तक है।

आनन्द को वह पहले ही दे चुकी थी। अपना कप उठा, कुर्सी से टिक किञ्चित निश्चिन्तता अनुभव करते हुए बोली,

— क्या आप मिलिट्री में जाने के पहले कही इतिहास के प्रोफेसर थे ?

— चाहता था, पर था नही।

— क्या इतिहास जैसी अवैयक्तिक चीज भी व्यसन हो सकती है ?

— व्यसन और प्रिय ये दोनो ही विशेषण जो मेरे सन्दर्भ मे प्रयुक्त किये गये है, वे मेरे द्वारा तो प्रयुक्त नही ही हुए है। अधिक से अधिक रुचि ही कह सकता हूँ।

— किसी विशेष काल मे रुचि है आपकी ?

— हाँ, प्रागैतिहासिक तथा वैदिक युग।

— सुनती हूँ उस काल मे कुछ नही था। जो कुछ सभ्यता, इतिहास आदि है वह सब ईसा से आरभ होता है।

— सुनता मैं भी यही था।

और आनन्द तिरस्कृत मुसकराने लगा। जिस तरह तौल कर वानीरा बातें कर रही थी लगभग उसी वजन की बातें आनन्द भी कर रहा था। सभी को हठात लगा कि बातें बडी फैल गयी है, उन्हे समेटा जाना चाहिए। मेजर आनन्द ने ही पहल की,

— अब आपकी तबीयत कैसी रहती है ?

वानीरा आनन्द के पूछने का सारा मतव्य समझ ले गयी। बोली,

— तबीयत तो ठीक ही है।

जो ठीक नही था उसे अनकहे भी आनन्द तक कहा हुआ बना दिया।

— सुना आप लोगो के पास कोई बहुत बड़ा खजाना है।

और मेजर आनन्द अपने ढंग से हँस पड़ा।

— आपका मतलब अगर गड़े हुए से है तो सरकार तथा मकान मालिक

का होगा।

मेजर ग्रानन्द को वानीरा में एक विशेषता लगी। हठात मेघ घिरने लगे थे। हवा झिरझिराने लगी थी।

—नही, मेरा मतलब...

— मै जानती हूँ।

— क्या ?

— विवेक की मूर्तियाँ।

और वानीरा ने एक झटके में ग्रपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी। स्पष्ट था कि ग्राज मेजर ग्रानन्द ग्रब ग्रौर उन मूर्तियों की चर्चा नहीं कर सकता था। ग्रतएव बाते, खासकर ऐसे समाज में घूम फिर कर मौसम, खालीपन पर ग्रा ही जाती है।

— ग्राज रात, नही तो सवेरे तक जरूर पानी गिरेगा।

— यह ग्राप कैसे कह सकते हैं ? क्या ये जो सहसा बादल घिरने लगे हैं इसलिए कह रहे है।

— ईशान कोण में बिजली की लपक ग्राप देख रही हैं ?

— ग्राप तो मौसमों का भी इतिहास जानते लगते हैं।

— नहीं, केवल मोटी-मोटी बातें। — एक निवेदन करना था।

— ग्राज्ञा करें।

— किसी दिन चाय पीकर मुझे ग्रनुग्रहीत करें।

— दोनों ही काम करने होंगे ?

ग्रौर तीनो हँस दिये। विवेक के मन पर जो एक बोझ था वह इस बात से दूर हो गया कि ग्राज कई दिनों, बल्कि हफ्तों बाद वानीरा इतने सहज ढंग से किसी ग्रन्य के सामने प्रस्तुत हुई थी ग्रौर उन्मुक्त थी।

वानीरा को मेजर ग्रानन्द न केवल इतिहासवेत्ता ही बल्कि एक ग्रच्छा वक्ता तथा ग्रत्यन्त संयत व्यक्ति भी लगा। उसकी न केवल

बातों में ही बल्कि हँसी तक में सामने वाले को अकेले कर जाने की क्षमता थी। सामने वाले को वह लेता अवश्य था पर स्वयं को उसे कितना सौंपता था इसका निर्णय चाहते हुए भी वानीरा नहीं कर सकी। क्लाइड, आनन्द, विवेक और वानीरा क्लाइड के लान में बैठे हुए, चाय पीते सूर्यास्त के प्रलम्ब सौन्दर्य को देख रहे थे। वैसे दिन भर वर्षा नहीं हुई थी इसलिए सब बडा सुहाना हो गया था। अभी-अभी क्लाइड ने एक शिकार का वर्णन पूरी रोमाचकारिता के साथ सुनाया था। शायद सभी उसे सुनकर अपने-अपने ढंग से अपने में ग्रहण किये सहसा मौन हो गये थे। सहसा मौन बड़ा लम्बा लगता है। साथ ही भारी भी। अपना ही हाथ हिलाने पर पूरी सृष्टि का बोझ अनुभव होता है।

— शायद इतनी अच्छी शाम मे ऐसा वर्णन सुनाकर मैने अच्छा नही किया।

क्लाइड की इस बात को तीनों ने सही माना परन्तु क्लाड के इस प्रकार बोलने में कही पश्चात्ताप का भी भाव था। सहसा वानीरा बोली,

— मेजर आनंद ! क्या आप जानते हैं कि मिस्टर क्लाइड के पास बडे ही अच्छे क्लासीकल रेकार्डो का संग्रह है।

— मै तो इन्हे एक बहुत अच्छा चाय का उत्पादक, शिकारी, उदारमना अंग्रेज तथा मित्र मानता रहा हूँ। इनके पास अगर क्लासीकल रेकार्डो का संग्रह है तो मुझे आश्चर्य नही होगा। वैसे मै जानता नही। — लेकिन क्या आप जानती है कि इनके पास सबसे सुन्दर तथा कीमती शतरंज न केवल है ही बल्कि उसके खिलाडी भी अच्छे खासे है !

वानीरा थोड़ा खिलखिला पड़ी।

— मेजर आनन्द ! न केवल जानती ही हूँ परन्तु मेरे पति के साथ इनकी कई बाजियाँ भी देख चुकी हूँ।

वानीरा की बात पर झूठा हतप्रभ होते हुए आनन्द बोला,

—मैं शुरू दिन ही समझ गया था कि आप से पेश नही पाया जा सकता।

ऐसा क्यो ?

लेकिन ऐसा क्यों नही ? प्रमाण मिल ही गया अभी। क्लाइड इस बीच अपने नौकर के साथ पुराने ढग का चोंगे वाला ग्रामोफोन लिवाये चले आ रहे थे। क्लाइड ने रेकार्डो का बक्सा वानीरा के सामने बढ़ा दिया। वानीरा ने डिब्बा विवेक की ओर बढाते हुए कहा,

मेरी तरफ से तुम चुनाव नही कर सकोगे विवेक ?

तुम इस समय वाद्य सुनना चाहोगी या गान ?

चाहती हूँ कि तुम और क्लाइड शतरंज खेलो और मेजर आनद मुझे सुनाएँ कि प्रागैतिहासिक काल मे कब क्या हुआ और क्यों हुआ। — बुरा न मानना विवेक ! असल मे अपने से इतने दूर चले जाने को मन करता है कि कभी आभास तक न हो कि मै थी या हुई भी। और यह इतिहास में ही सभव है।

वानीरा की इस बात पर सबका चौकना सहज ही था। क्लाइड ग्रामोफोन मे चाभी दे चुका था। अभी वह चोंगा लगा रहा था कि वानीरा ने यह बात कही थी। वह बोला,

श्रीमती विश्वास ! मै कई दिनों से आपसे एक बात कहना चाह रहा था।

मिस्टर क्लाइड ! क्या यह सभव नही है कि मैं उसे जानती होऊँ ?

जरूर सभव है, लेकिन —

क्या आप सोचते हैं कि मै भी वह सब अब नही सोचना चाहती हूँ जिसके न सोचने के लिए आप कहने जा रहे है ?

हाँ और क्या। इस तरह अगर आप गाँठ बाँधकर बैठ जाएँगी तो कैसे काम चलेगा ?

कौन सा काम ? — मिस्टर क्लाइड ! एक बार वितृष्णा हो जाने पर मुँह सदा के लिए तुरा जाता है।

इसीलिए मै डाक्टर विश्वास से कई बार कह चुका हूँ कि दो-चार दिन की आउटिग का कार्यक्रम क्यों न बनाया जाए ? परिवर्तन हमेशा अच्छा होता है।

विवेक ने इस बीच एक वाद्य का रेकार्ड छाँट लिया था। वह उठा और उसे ग्रामोफोन पर लगा दिया। तभी वानीरा उठी और बोली,
— विवेक। तुम नही सोचते कि अब हम लोगों को चलना चाहिए?
बात सभी को असंगत लगी। सूर्यास्त के अन्तिम रंग आकाश में मैले हो रहे थे। प्रकाश तो अधिक नही था पर आभास बहुत था। स्वर और प्रकाश दोनों की स्तब्धता पत्तों, लान, सामने के विस्तृत फले चाबगान तथा लोगों के मुखों पर ठहरी हुई थी। केवल ग्रामोफोन का अकेला स्वर आशा से अधिक उभरा लग रहा था। वह फिर बोली,
— मेजर आनन्द। क्या आप शहर की तरफ नहीं जा रहे है?
और मेजर आनन्द की जीप जिस समय विवेक-वानीरा को लेकर चली, रिकार्ड समाप्त हो चुका था और क्लाइड उसे बन्द कर रहा था। वानीरा के इस प्रकार अनुत्सवी ढंग से उठकर चल देने के प्रति लगभग सभी को सहानुभूति थी।

नवरात्री के दिनो में लगभग आकाश स्वच्छ रहता है। रहा भी। इसलिए 'रिजर्व फारेस्ट' की आउटिंग का कार्यक्रम बन गया। पर विवेक के लिए जा सकना संभव न हुआ। कुछ रोगी ऐसे थे जिन्हें वह छोड़कर नही जा सकता था। तय यही हुआ कि अलत सबेरे क्लाइड, आनन्द और वानीरा, दो नौकरों के साथ निकल पड़ेगे और या तो शाम तक या देर शाम तक तो लौट ही आएँगे। 'रिजर्व फारेस्ट' ही मे जंगली हाथी, चीते, अनोखे पशु-पक्षी देखे जा सकते थे। वहाँ के लिए राजकीय आज्ञा प्राप्त कर लेना मेजर आनन्द के लिए कोई कठिन नहीं था।

लेकिन इन लोगों को चलते-चलाते ही आठ बज गये। खुली धूप, ठण्ढी हवा तथा साफ सड़क के कारण तीन घंटे में ये लोग सौ मील

का रास्ता तय कर सके। यात्रा लगभग दो सौ मील की थी। आनंद को आशा थी कि एक, डेढ तक तो अवश्य ही फारेस्ट रेस्ट-हाउस पहुँच जाया जाएगा। आज के जैसा खुला दिन शिकार और मछली पकडने के लिए आदर्श होता है। चारों ओर का विपुल दृश्य देखते रहने के कारण यात्रा असुविधात्मक नही लग रही थी। थोड़ी ही देर बाद अनायास मेघ घिरने लगे और आधे रास्ते तक पहुँचते तो मूसला धार वृष्टि होने लगी। यद्यपि आनन्द की जीप चारो ओर से अच्छी तरह से ढँकी थी पर बौछार बहुत तेज थी। पानी जिस सपाटे से बरस रहा था उसमे गज भर आगे भी देखना दुष्कर हो रहा था। नदियो, नालों मे काफी पानी था। पानी, बौछार और तेज हवा के कारण उनकी गति इतनी धीमी हो गयी थी कि जगह-जगह उन्हे रुकने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था। इसका नतीजा यह हुआ कि जिस समय मेन रोड छोड़ कर वे लोग 'रिजर्व-फारेस्ट' की सीमा में प्रविष्ट हुए तब चार बजने में दस मिनिट थे। मीलों तक सघन कान्तार के न कोई शब्द, न स्थिति कुछ नही था। जगल मे जैसे-जैसे वे प्रविष्ट होते गये वैसे-वैसे ऊँचे शीशम तथा दूसरे पेड़ों ने लगभग रात ही उपस्थित कर दी थी। भीगता अरण्य-सौन्दर्य, मोहक अवश्य था पर उसमे एक अपराजेयता थी जिससे भय लगता था। मैदानों की अपेक्षा वन का भीगना नितान्त अपना होता है। अजीब सन्नाटे में खिचे सब बैठे थे। केवल जीप की दो बत्तियाँ और इंजिन की घरघराहट ही उस कान्तारी निर्जनता मे सजीव लग रहे थे। वापस लौटने का प्रश्न हो नही था क्योकि यदि इसी तरह वर्षा होती रही तो पता नही कितनी रात में डिब्रूगढ़ लौटना हो। और वहाँ ऐसे भीगते हुए लौटने में किसी और की नही तो वानीरा की तबीयत अवश्य खराब हो सकती थी। हवा कद्दावर पेड़ों के बीच साँय-साँय कर रही थी। रह-रह कर आती पशु-पक्षियों की अजीब आवाजे तथा सुदूर में एक साथ आती हाथियों की चिघाड़ वन के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अनुगुंजित हो रही थी। नदियो, नालों के मारे तो फर्लाङ्ग भर चलना मुश्किल हो रहा था।

पता नहीं इतना पानी धरती कैसे धारण किये रहती है। वातावरण क्रमशः भयद होता जाता जा रहा था। क्लाइड और आनन्द के बीच सिर और कान पर रूमाल बाँधे वानीरा भी मौन बैठी थी। वर्षा पर्दो पर गोलियों की तरह टकरा रही थी। आनन्द के बाल भरे पुष्ट हाथ, स्टीरिंग कर रहे थे और वह ड्राइविंग मे केन्द्रित था। क्लाइड अपना पाइप पीते हुए शायद मन ही मन वर्षा पर चिढ़ रहा था क्योंकि शिकार का उसका सारा कार्य-क्रम ही चौपट हुआ जा रहा था। वानीरा निष्क्रिय नहीं तो निश्चिन्त अवश्य थी कारण कि जहाँ तक स्थितिगत चिन्ताओं का प्रश्न था उसे वह साथ के दो समर्थ पुरुषों पर छोड़ कर निरापद थी। संभवत: यही उचित एवं नारीगत भी था, बल्कि किसी सीमा तक यहाँ इस प्रकार घिर जाना उसे जरा भी विपद नही लग रहा था। सभवत: बारंबार उसका मन एक ही बात कहने को हो रहा था कि आनन्द! जरा जीप रोको, इस वर्षा मे भीग लिया जाए, संभव है भीतर का असन्तोष, रोज की अन्यमनस्कता को कुछ ठण्ढापन लगे। मुँह पर फुहार झेलना कितना अच्छा लगता है न?

— क्या अभी हम लोग फारेस्ट में नहीं पहुँचे?

वानीरा के इस प्रश्न पर क्लाइड ने पाइप को दाँत से पकड़, जवाब दिया,

— यही तो फारेस्ट है।

— तो फिर?

दोनो की समझ मे नहीं आया कि 'तो फिर?' कह कर वानीरा क्या पूछना चाह रही है? लेकिन जाने क्या सोच कर दोनों ने ही वानीरा से कुछ नही पूछा, बल्कि आनन्द ने क्लाइड से पूछा,

— क्यों मिस्टर क्लाइड! आपको तो याद होगा कि इस नदी के पार ही तो दाहिने से एक शार्टकट है रेस्ट हाउस के लिए।

— मेरा ख्याल है कि जरूर है, पर इट इज नाट व्हेरी सेफ।

बिना किसी ओर देखे आनन्द किंचित हँसते हुए बोला,

—तब तो बहुत अच्छा है कि अगर कोई जानवर मिल जाए तो

आपका शिकार का कार्यक्रम तो पूरा हो जाएगा। वर्ना खाली हाथ लौटना पड़ेगा।

एक पतले से पुल को लगभग हिलाती हुई जीप उस पार पहुँची। नदी बहुत नीचे नही थी पर धार तेज थी तथा शब्द भी खासा था। दाहिने हाथ वाली पहाडी लगभग सामने का रास्ता रोक कर बाँये हाथ दूर तक चली गयी थी। नदी और पहाडी की तलहटी से सटी सड़क आगे निकल गयी थी। आनन्द ने शार्टकट के लिए जैसे ही जीप को मोड़ा तो बड़े जोर का झटका लगा। अभी कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही सब ने देखा कि एक बडा सा बारहसिंघा जीप से टकराता भागा। क्लाइड का हाथ फौरन अपनी राइफल पर गया। पर अभी वह जीप का पर्दा उठाकर बाहर निकले इस बीच वह पेड़ो मे अदृश्य होता जा रहा था। फिर भी बड़ी फुर्ती से कूदकर निशाना ले अंदाज से उन्होने तीन-चार फायर किये। सारा जगल राइफल की आवाज से गूँज उठा। क्लाइड जानता था कि फायर व्यर्थ ही गये है पर सावधानी के ख्याल से वह उधर ही लपका जहाँ बारहसिघा फायर करते समय अतिम बार दिखा था। ठीक इसी समय जब कि बारहसिंघा जीप से टकराया था, हठात झटका लगने के कारण वानीरा आनन्द से टकरायी तो अनायास वह आनंद की खुली पुष्ट बाँह पर झटके से गिरी। बाँह की पुरुष-रोमावलि जब वानीरा के स्निग्ध गालो पर लगी तो देह सुरसुरा उठी। निष्प्रयास, बल्कि आदतन आनन्द का बाँया हाथ सहारा देने के ख्याल से वानीरा की कमर पर आ गया। वानीरा ने देखा कि आनन्द उसकी ओर बड़ी ही सर्वजित मुसकराहट से देख रहा है। प्रत्युत्तर मे वह भी मुसकराते हुए स्वयं को साधने लगी। जब क्लाइड बारहसिघा की खोज मे थोडी ही दूर जाकर जगल मे अदृश्य हो गया तब जीप में बैठे हुए व्यक्तियों के पास सहसा कोई काम नही रह गया। वानीरा को ऐसे मौन बैठना सुहाया नही, वह बोली,

— क्या वह बारहसिघा मर गया होगा ?

— मै तो नहीं समझता।

— तब फिर क्लाइड क्यों गये ? भींग नही जाएँगे वह ?

— शिकारी, शिकार के अलावा और कुछ नही देख पाता है । —

लो, वो देखो जनाब खाली हाथ चले आ रहे है ।

क्लाइड ने आते ही कहा,

— कमबख्त वार बचा गया ।

— चलिए, कोई बात नहीं, आपने कोशिश तो की ।

और जीप पहाड़ी जंगली रास्ते पर चढ़ने लगी । जीप के भीतर अँधेरा था पर स्पीडोमीटर और तैल-सूचक यन्त्रों की क्षीण लाइट, थोड़ी सी होते हुए भी बड़ी फैली-फैली लग रही थी । और जिस समय ये लोग रेस्ट हाउस पहुँचे वर्षा हलकी हो गयी थी, पर अभी वर्षा और होगी, इतना स्पष्ट लग रहा था ।

रेस्ट हाउस के बरामदे मे बैठे हुए थोड़ी निश्चिन्तता अनुभव करते हुए वानीरा को बड़ा अच्छा लग रहा था । आकाश बादलो से अभी भी भरा था पर उनकी सघनता, इतने बरस जाने के बाद कम हो गयी थी । जो अँधेरा एकदम झुक आया था, थोड़ा ऊँचा हो गया । चारों ओर का दृश्य क्रमशः उतार लेता हुआ क्षितिज पर्यन्त वनश्री बन कर फैला था । बड़ी ही निस्तब्धता फैली थी । तीनो के चाय पीते तक वर्षा एक प्रकार से थम चुकी थी । भीगे कुहरे के झीने, नीले मलमली दुकूल पेड़ो पर या तो लटके हुए थे या उनमे फैले थे । घाटियो की लचक के साथ कुहरा भी चिकनी नीली लचक मे रुका हुआ था । हवाहीन वातावरण में मौन भी बड़ा उत्कीर्णित लगने लगता है । वानीरा इस क्षण न विगत न आगत, कहीं अन्यत्र न होकर पानी की बूँद बनी स्थिर थी । व्यक्ति यदि ऐसे ही असम्बद्ध क्षणों मे जा सके तो उसे कभी दुःख नही हो सकता । दु ख, विगत की स्मृति या आगत की आशंका से होता है । यदि केवल वर्तमान ही वर्तमान हो तो ऐसा

वर्तमान सदा हमारे पैरो के नीचे होता है। पर ऐसे क्षणों में भी दुःखी कर देने की क्षमता होती है। वानीरा को यही दुःख सताये हुए था कि यह क्षण कैसे चुपचाप, अनायास, निष्प्रयास बीता जा रहा है। बीनकर कैसे अदृश्य हुआ जा रहा है कि कभी भी नही लौटेगा। आराम कुर्सी पर बैठी हुई वह, उसका यह चाय का प्याला, भाप के कोमल वर्तुल सब बीत कर जाने कहाँ चले जा रहे है। कैसी अजीब बात है कि हम बीत कर कही चले जा रहे है और हमे ही नही मालूम कि बीत कर कहाँ पहुँच गये है या पहुँच रहे है। तब भला एक दिन जब सम्पूर्ण या रहे-सहे भी अंतिम बार के लिए बीत जाएँगे तब भी हमे क्या मालूम हो सकेगा ? हम स्वयं बीत कर अपने ही लिए अज्ञात हो जाते है। केवल एक दिन ऐसा जरूर होगा जिस दिन अंतिम बार बीत कर फिर और कुछ बीतने के लिए शेष नही रहेगा।

तभी हाथी की चिग्घाड़ कहीं पास मे दक्षिण से आयी। वह चौकी। क्लाइड हँसते हुए बोला,

— डरने की कोई बात नही। रात भर ऐसी चिग्घाड़ें सुनने को मिलेंगी।

— शायद हम लोगों ने यहाँ आने के लिए उपयुक्त दिन नही चुना।

वानीरा की बात पर क्लाइड बोला, जो कि बन्दूक की नली मे कुछ देख रहा था;

— नही, दिन तो बहुत अच्छा है। जब चले थे तब कितना खुला हुआ था, और वैसे भी अभी दो-तीन घंटे जंगल मे घूमा जा सकता है। ठीक है न मेजर आनन्द ?

— पानी बरस गया है, संभव है श्रीमती विश्वास को अड़चन हो।

आनन्द की बात पर वानीरा बोली,

— लेकिन अब तो अँधेरा भी काफी हो गया है।

क्लाइड ने ट्रिगर को दो-तीन बार चलाते हुए कहा,

— यहाँ का यही तो आदिम-आनन्द है मिसेस विश्वास ! — चीते, हाथी, अजगर और...

कारतूस की पेटी कसते हुए क्लाइड बोलता जा रहा था, बिना यह समझे-बूझे कि बात का वानीरा पर क्या प्रभाव हो सकता है। वानीरा अन्तर में भयग्रस्त हुई। ऊपर से वह निस्पृह बनी रही। लेकिन वह यही सोच रही थी कि यदि आनन्द और क्लाइड दोनों ही चले गये तो वह यहाँ अकेली बैठी क्या करेगी ? आनन्द के दोनों नौकर पीछे की तरफ खाना बनाने में व्यस्त थे। अभी थोड़ी ही देर मे अँधेरा घिर आएगा, तब वह यहाँ अकेली बैठी बरामदे मे क्या करेगी ? और क्या तब सभव भी होगा ?

दोनों बाहर निकलने की तैयारी लगभग पूरी कर चुके थे। आनन्द ने अपनी सर्वजित मुसकराहट के साथ कहा,

— क्या आप नहीं चलेंगी ?

नारी जब पुरुष से कुछ अतिरिक्त की आशा करती है तब आँखे बड़े ही प्रमुख रूप से खुली-खुली लगती है। ऐसे आँखें आपकी पात्रता बाँच ले जाती है ठीक ऐसे ही जैसे कि कर्ज देने वाला, कर्ज लेने वाले को आद्यन्त बाँचता है। नारी कभी भी अपने को निरापद नही सौपती। जब वानीरा ने उसे बाँच लिया तो अपना एक हाथ उठा दिया जिसे आनन्द ने लिया नही बल्कि ग्रहण किया। ऐसे ग्रहण करने का अर्थ प्रत्येक नारी के निकट बहुत स्पष्ट होता है। नारी देती नही, ग्रहीता होना चाहती है।

और बरसातियाँ, टार्च, राइफलें लेकर तीनों निकल पडे। दृश्य का हरापन किंचित गहरा गया था। जंगल की क्रमशः भयानक निस्तब्धता कद्दावर पेड़ो के गीले तनो, भीगे रास्तों तथा ठिठुरे अँधेरे में जैसे बोल रही थी। सन्नाटे की अनन्त पतली-पतली धारियाँ यहाँ-वहाँ खिची हुई थी। किसी पक्षी की जरा सी हलचल से ढेरों बूँदें टिपटिपा जाती और उसकी छोटी सी प्रतिध्वनि तक लगने लगती। भीगे रास्ते पर अपनी ही पदाहटें उन्हे सुनायी पड़ रही थी। निर्जनता, कसा हुआ वाद्य लग रही थी तभी तो स्वयं के सोचने तक का शब्द अनुभव होता था इसलिए तीनो बिना कुछ सोचे-विचारे बढ़ रहे थे।

वानीरा बीच में थी और क्लाइड आगे था। आनन्द कभी-कभी आस-पास के घिरे अँधेरे मे टार्च की रोशनी फेंक कर देखता चल रहा था। बीच-बीच मे क्लाइड की सीटी कुछ देर को सुनायी भर पड़ जाती, जो काफी प्रमुख लगने लगती। ऊँचे पेड़ों और वन के सघन विस्तार ने उन तीनो को नगण्य कर दिया। वातावरण मे हाथियो की चिग्घाड़ थोड़ी स्पष्ट थी। पर जाने क्यों वानीरा को अनुखन यह लगता रहा कि अभी कोई अघटित घट सकता है। किसी भी क्षण कुछ भी संभव है।

— यह हाथियों की चिग्घाड़ बहुत दूर तो नही लगती मिस्टर क्लाइड !

आनन्द की बात का जवाब क्लाइड ने बिना मुड़े दिया,

— यह जो थोड़ी दूर पर नदी है, वहाँ शाम के समय ये सब पानी पीने आते है।

— तो क्या हम लोग उन्हे देख सकते हैं ?

वानीरा की इस बात का उत्तर दिया जाता इसके पूर्व ही आनन्द की बैटरी एक पेड़ के तने के पास ठिठकी और लगभग चीखते हुए वह बोला,

— मिस्टर क्लाइड !

क्लाइड शायद बैटरी की रोशनी में वह देख चुका था जिसे आनन्द दिखाना चाहता था और क्लाइड ने निशाना साधकर दो गोलियाँ चलायी। वह अजगर था जिसने इन लोगों को नही देखा था। केवल उसकी भारी फूत्कार सुनायी दी थी। गोलियों का शिकार हो अजगर ढेर हो गया। वानीरा के मुँह से केवल चीख निकली थी और अगर आनन्द ने सहारा न दिया होता तो वह मूच्छित होकर गिर पड़ती। वैसे वह मूच्छित नही हुई थी क्योकि उसने गोलियो की आवाज सुनी थी तथा अपनी कमर मे आनन्द का हाथ भी अनुभव किया था, साथ ही उसे आनन्द के कंधे का अनुभव अपने गालों पर हुआ था। जब उसने क्लाइड की आवाज सुनी तब अपनी आँखे खोली थीं।

— उसे रास्ते से हटा दिया जाना चाहिए।

और उसने देखा कि क्लाइड खून से लथपथ अजगर की विशाल काया को ठेलकर पत्तो के नीचे दबाने लगा है। तब शायद वह पूरी साँस ले सकी, पर वह बहुत डर गयी थी। आनन्द उसे बराबर सहारा दिये था। वह अब उससे और अधिक सटकर चल रही थी। वह यह कहने की बराबर सोचती रही कि वह लौट जाना चाहती है पर उसमे यह कहने का भी साहस नही रह गया था।

जब वे लोग नदी तट पर पहुँचे और थोड़ा खुलापन देखा तो वानीरा का भय किंचित कम हुआ। रास्ते भर वह पत्तो की चरमराहट पर किसी बनैले जन्तु की कल्पना करते हुए काँपती आयी थी और कम्पित वानीरा को आनन्द अपने से अविलग किये रहा।

आकाश साफ होने लगा था। पंचमी का पतला चन्द्रमा फूट आया था। वन म अँधेरा अत्यन्त शालीन भाव से उजला गया था। दूर कोने मे उस पार हाथियो का एक झुण्ड नदी मे घुसने की चेष्टा मे खड़ा था।

— हमे ओट मे हो जाना चाहिए, क्योकि अगर उन्हे हमारी उपस्थिति का भान हो गया तो वह हमारे लिए शुभ न होगा।

और क्लाइड सब के लिए किसी निरापद स्थान की खोज में बढ़ गया। वातावरण मे नदी का शब्द कलकला रहा था। वन की समग्रता कितनी विपुल थी कि जैसे अगम्य हो। हाथियों के पानी मे घुसने का शब्द जोर से उठा और ढेर सारा जल, उत्तप्त होकर ठेले गये रूप में बहता दिखा। तभी उनकी प्रसन्न चिग्घाड़ वन में व्याप्त हो गयी। पानी पर सूँड़ो का पटकना सुनायी पड़ रहा था। चारों ओर की निस्तब्धता व्याकुल लग रही थी। वानीरा को लगा कि किसी भी क्षण हाथियों को यह भान हो सकता है कि दूसरे किनारे पर कुछ लोग हैं और वे झपट कर आ सकते है। ऐसी दुरभि में तब क्या होगा, यह सोच कर ही काँप उठी। वह अब जिस मनस्थिति में थी उसमें वह यहाँ बैठ नही सकती थी।

— मेजर आनन्द ! क्या अब हमें लौट नही चलना चाहिए ?

— क्या बहुत डर लग रहा है ?

शायद हाथी उन्मुक्त होकर नदी में नहा रहे थे। जगल में उनकी चिंग्घाड़ की प्रतिध्वनियों के साथ अनेक जानवरों की बोलियाँ गूँजने लगी थी। थोड़ी देर पहले तक वन की सारी निर्जनता अब जैसे सहस्र कंठी होकर मुखर हो गयी थी। विपुलता ही भय है, चाहे वह मौन की हो या मुखरता की। तभी कही पर एक बड़ी सी दहाड़ गूँजी और चारों ओर दुहराती-तिहराती गूँजती चली गयी। क्लाइड हाँफता हुआ आ रहा था,

—मेजर आनन्द ! लगता है शेर भी यही कही पास में ही है।

— तो अब हमें क्या करना चाहिए ?

— किसी पेड़ पर चढ़ना ही अच्छा होता लेकिन मिसेस विश्वास कैसे चढ़ पाएँगी ?

— क्या यह ठीक नही होगा कि यही दुबके बैठे रहे ?

— क्या हम लोग लौट नही सकते ?

वानीरा की बात पर क्लाइड मुसकराना चाह रहा था, बोला,

— लौटना इस समय संभव नही, क्योंकि मान लो शेर रास्ते में ही मिल जाए, तो ?— अच्छा हो कि हम लोग बँट जाएँ।

— ठीक है, आप किसी पेड पर पोजीशन ले लीजिए और हम लोग यही रहते हैं।

शेर की दहाड़ अभी भी आ रही थी पर दूरी पर हो गयी थी।

क्लाइड बोला,

— लगता है शेर नदी के पार पहुँच गया है।

वानीरा अपने भीतर की थरथराहट बड़ी मुश्किलो से रोके हुए थी। अपनी दोनों जाँघे सटाये वह टाँगो को काँपने से रोके हुए थी। रास्ते की अपेक्षा यहाँ उसे भय कम था क्योकि शेर से उसे उतना डर नही लगता था जितना कि साँप आदि से।

जैसे ही क्लाइड चलने को हुआ तो वह बोली,

— नहीं मिस्टर क्लाइड ! आप कही नही जाएँगे। मेरा ख्याल है कि

थोडो ही देर में हम लोग यहाँ से चल सकेंगे।

और जिस समय ये लोग रेस्ट-हाउस वापस पहुँचे तो आकाश निरभ्र हो चुका था। कहने भर के लिए भी बादल नही रह गये थे। तारे एकदम पारदर्शी शुभ्र छिटक आये थे। चारों ओर का अँधेरा जुगनुओ मे सुलगा पड़ रहा था। यही तय हो पाया कि सवेरे जल्द चल दिया जाए ताकि दोपहर के पहले तक डिब्रूगढ पहुँचा जा सके।

घर पहुँच उसे दिन भर ग्लानि बनी रही। किसी दूसरे पर नही बल्कि अपने पर ही। रात रेस्ट हाउस में जो विषम परिस्थिति उत्पन्न हुई उसमें कही वह स्वयं भी थी। इस बात को वह किसी अन्य के सामने नही स्वीकारेगी परन्तु अपने निकट क्या वह अस्वीकार सकती है ?

लौट कर खाना खा वह अपने कमरे में जाकर लेट गयी थी। शायद क्लाइड और आनन्द भी अपने-अपने कमरो मे जाकर लेट गये थे। वह पढ़ते-पढ़ते बिना लालटेन बुझाये ही सो गयी थी। पता नही उसकी नीद क्योंकर खुली थी पर जैसे ही वह लालटेन बुझाने के लिए उठी कि उसे बरामदे में पैरों की हलकी पदचाप सुनायी दी। वह एकदम ठण्ढी होकर हड्डियो तक काँप उठी थी। बड़ी भयद हो आहट लेने की चेष्टा की। उसे लगा जैसे कोई टहल रहा है। सिहरन दौड़ गयी थी। सभवतः वह चीख ही पड़ती पर टहलती आकृति का आभास खिड़की से दिखा और उसे शंका हुई कि आकृति आनन्द की तरह की है। उसने साहस कर पुकारा था,

— कौन ! मेजर आनन्द ?

— अभी आप सोयी नही ?

— बाहर आप क्या कर रहे हैं।

— बाहर कितना अच्छा है।

और जब वह भी गाउन में लिपटी बाहर बरामदे में पहुँची थी तो उसे आनन्द के कथन में जरा भी अत्युक्ति नही लगी। सारा दृश्य ठहरी पुतली की तरह सजीव था। तारे अतिशय धुले चमक रहे थे। बच्चे की कोमल साँस की तरह हवा चल रही थी। तीक्ष्णता अवश्य थी पर जादू भी कम नहीं था। अँधेरे में एक प्रकाश होता है और उसी आलोक में गाउन मे हाथ डाले खड़ा आनन्द, वानीरा को बड़ा ही सुन्दर पुरुष लगा।

— आपके इस तरह टहलने से मै तो डर गयी थी।

— आप शायद बत्ती बुझाना भूल गयी थी। आपको शायद यह भी नही मालूम कि आप सीने पर किताब रखे सो गयी थी और करवट लेने पर किताब गिर पड़ी थी।

तभी उसे ख्याल आया कि निश्चय ही वह किताब गिरने की आवाज से ही चौंकी थी।

— तो क्या आप रात भर मेरी खिड़की के निकट पहरा देने के विचार से टहल रहे थे ?

— इतना सौभाग्य क्या कभी हो सकता है ?

वानीरा ने अपने पास खड़े इस शलाका-पुरुष को देखा तो इसी ख्याल से था कि इस वाक्य का अर्थ, अतिरिक्त ही सही, क्या है ? पर आनन्द निस्पृह खड़ा था। कही भी कोई संयमहीनता नहीं दिखी। और तो और वाक्य कह कर उसने वानीरा की ओर देखना भी उचित नही समझा। कुछ देर को दोनो ही अबोले खड़े रहे।

— सुना है, आप बहुत अच्छा गाती हैं।

— लोग आपसे मेरी अब शिकायतें भी करने लगे हैं, है न ?

आनन्द उसे अब देखने लगा है यह वानीरा को बिना उसकी ओर देखे भी लगा। जब कि वह सप्तर्षि को देखने लगी थी।

— वानीरा जी !

— यह 'जी' भी क्यों ?

वानीरा ने स्पष्ट अनुभव किया कि दाहिना हाथ आनन्द ने बढ़ाया और

उसका बाँया हाथ गह लिया। देह की गर्मी भी कैसी मंद सिकी होती है। आनन्द ने वानीरा की अँगूठी को अनामिका मे घुमाते हुए कहा,
— वानीरा ! आकाश मे काल-पुरुष के कभी दर्शन किये है ?
— काल-पुरुष ?
— हाँ, जो समस्त ग्रह-नक्षत्रों में व्याप्त है। जो कारण है इस समस्त चराचर का।
— लगता है आप तो उपनिषद्, ज्योतिष मे भी रुचि रखते है।
आनन्द ने उसकी बात का कोई उत्तर नही दिया बल्कि वानीरा की कमर में हाथ डाल कर अपने से सटाते हुए सुदूर नक्षत्रों में विराजे काल-पुरुष को दिखाने को चेष्टा करते हुए कहा,
— वानीरा ! तारो की रचना पर ध्यान दे सकोगी ?
— बताओ।
आनन्द बाँये हाथ से उत्तर-दक्षिण बताते हुए बोला,
— ये जो तारों की माला खिंची है इसे देखती हो ? — और ये जो इसमे से पूर्व-पश्चिम मे फूटती तारो की दो रेखाएँ भी ? — और वो ऽऽ जो बड़ा सा गोलवृत्त है न — यही उस काल-पुरुष की देह, भुजाएँ और सिर है। अनन्त आकाशो को पहन हुए यह करोड़ो सूर्य-नेत्रों वाला काल-पुरुष कालातीत मे चल रहा है। हमारी पृथ्वी की पूरी आयु उस पुरुष के पलक की एक झपक मात्र है वानीरा ! — भला ऐसे में हमारा पूरा जीवन, तथा उस पूरे जीवन में आज की यह रात और पूरी रात मे आज का मुहूर्त और उस मुहूर्त को देखती हुई तुम्हारी यह मंगलमय दृष्टि ...
और वानीरा ने आनन्द की साँस का कैसे क्रमशः अनुभव किया यह तो स्पष्ट बोध नहीं, पर अपने मुँह, कपोल, पलकों और माथे पर आनन्द की गरम, उत्तप्त साँसों का अनुभव किया, इतनी चेतना उसे अवश्य थी। पता नही आनन्द ने जिस काल-पुरुष को दिखाना चाहा वह देख सकी कि नही पर उसके मन ने जिसे शलाका-पुरुष स्वीकारा था उसे वह आद्यन्त देख सकी। कैसे वह अवश हुई और कैसे आनन्द

उसे कमरे तक लाया और वह यह भी कुल इतना जान सकी कि उसने अपने को सौंपा नहीं वरन ग्रहीता हुई।

लौटते में रास्ते भर वह कैसे अपने से ही अंग चुराती केवल मौन बनी बैठी रही थी। जाते समय जितना उत्साह था, लौटते समय उतनी ही निरुत्साहित थी, बल्कि उसे बड़ी निर्वसनता लगती रही। रात जो शलाका-पुरुष लगा था लौटते में ड्राइविंग करता वही पुरुष कैसा साधारण हो उठा था। प्राप्य हो जाने पर सब साधारण हो जाता है। जब वह जीप से उतर कर घर में प्रविष्ट हो रही थी उसे मालूम था कि आनन्द जीप के पास खड़ा विदा देने और लेने के लिए उत्सुक खड़ा है पर मुड कर देखना और औपचारिक मुसकराना उसे नही सुहाया। वह वास्तव मे बिखर उठी थी। अपने बिखरेपन को समेटने मे कितनी चेष्टा करनी होती है यह वह लौटने के बाद दिन भर प्रयास करती रही। उसे बस एक ही चीज खाती रही कि वह आनन्द के निकट ऐसे सहज कैसे हो गयी? जब कि क्लाइड के निकट वह चिर लालसा रही है, तथा है। कल रात जो हुआ वह नया नही था, अवांछित भी नही था पर व्यक्ति, स्थान तो सर्वथा अवांछित थे। उसे अपने भीतर ही दरार अनुभव हुई। उस दरार के पार एक ही रात मे विवेक खड़ा हो गया। सम्बन्ध का दर्पण क्या अब कभी दरारहीन नही हो सकेगा? क्लाइड दिखने में पुरुष है पर वैयक्तिक आचार में कितना विश्वसनीय। क्या पुरी, क्या डिब्रूगढ, क्या एकान्त समुद्र-तट, क्या चाबगान के सूने विस्तार सब जगह वानीरा अपने को न केवल सुरक्षित ही अनुभव करती रही पर निरापद भी। कैसे निश्चिन्त तथा आश्वस्त होकर वह अकेली पार्टियो के बाद क्लाइड के साथ रुक जाती रही है और दो-चार पेग शेन्पेन के पीने के बाद, मधुर संगीत के वातवरण में भी क्लाइड ने उसे उतना ही शालीन छुआ होगा जितना कि कोई अत्यन्त सतर्कता में किसी कोमल पाटल दल वाले फूल को छूता हो। क्लाइड स्वयं विवश हो जाता रहा हो पर वानीरा को न तो कभी अवश, न विषम परिस्थिति में ही खड़ा किया होगा!

तभी तो वह क्लाइड के निकट दुर्भेद्य विश्वास अनुभव करती रही है। पर यह आनन्द ऊपर से व्यवहार मे आद्यन्त शिष्टपूर्ण। बोलता है तो लगता है जैसे किताब पढ़ रहा है। ऐसी किताब जिसमे केवल सुभाषित, तत्वज्ञान ही है और जो कि सुनहरी जिल्द की प्रभावशाली है। पर अकेले में कैसा अधिकार भाव उसकी आँखो, हाथो सब में होता है। उसने कैसे सहज भाव से उसकी कमर मे हाथ डाला था जैसे यह कोई अव्यवहृत बात नही है। किस विश्वास के साथ, साहस के साथ उसने वानीरा को विवश किया। कितने शांत भाव से वानीरा को ग्रहण किया। उसे अच्छी तरह याद है कि जिस अदम्यता से वह उसके बिस्तरे पर बैठा हुआ उसके बालो में अँगुलियाँ चला रहा था, तब उसकी बलिष्ठता वानीरा की आँखो मे कैसी खुभ उठी थी पर वह कितना चाहती रही कि वह जोरो की एक चपत आनन्द को मार बैठे। केवल इसलिए कि वह कोई झरने का जल नही है जिसमे वह अपनी अँगुलियाँ कितने निश्चिन्त एव, साधिकार भाव से चला रहा है। वह एक व्यक्ति है और वह भी परायी है। लेकिन वह ऐसा नही कर सकी थी। आनन्द अपनी सारी आत्मस्थता के बावजूद भी उस पशुराज की तरह लग रहा था जो शिकार को हस्तगत करने के बाद उससे अतिम बार के लिए खेलता है। उसका भारी जबड़ो वाला भारी सुन्दर मुख वानीरा, आँखो की राह अपने भीतर बल्कि पेट तक पी गयी थी। ऐसा ही सुन्दर जबड़ों वाला मुख अपने भीतर चलते हुए अनुभव होने लगा था और उसे अच्छी तरह याद है कि दाढ़ी की नीली झाँई वाला आनन्द का गोरा मुख, डूबते चद्रमा सा उस पर झुकता ही आया था। उसका पुरुष, उसकी नारी से स्वीकृति चाहता था और वह सब कैसे आधे मन और आधी देह की बनी अस्वीकृत होने की चेष्टा करती रही क्योकि उसे आनन्द के पीछे जो अँधेरा था उसमे हठात विवेक खड़ा दिखा था।...और पीठ मे चादर की सलवटे ही सलवटे अनुभव होती रही...और भोर के आलोक मे हड्डी भरी हथेली के पिजर सी जब सलवटों वाली चादर झलकी तो...तो...

ऐस्प्रो की दो टिकियाएँ खाकर वह दिन भर लेटी रही । अपने से परे जाने की चेष्टा में वितृष्णा बनी बिस्तरे पर टूटी पड़ी रही । सिर में दर्द और देह में थकान होते हुए भी वह सो न सकी । ज्योंही वह विचारों मे विवेक के निकट होती तभी आनन्द सामने आ खड़ा होता। वह उसे फटकारने लगती पर आनन्द उसे किस अधिकार से आदेशित कर रहा होता । वह अब कभी आनन्द से मिलना नही चाहती क्योंकि विवेक से दूरी नही चाहती । जिस घर को, विवेक को उसने डिब्रूगढ़ में आकर मनोनुकूल सँवारा है उसे वह विनष्ट नही कर सकती । कल की रात पर वह मौन की एक ऐसी अभेद्य शिला रख कर उसे दफना देगी कि किसी को कभी विश्वास भी नही आएगा — शायद तभी विवेक की हँसी सुनायी दी ।

— वानीरा !

वानीरा ने प्रकट मे आँखें मूँद रखी थी । वह सोयी नही थी पर सोचते-सोचते थक गयी थी इसीलिए उसे विवेक की पुकार नीद में आती पुकार सी लगी थी । — जब विवेक पास आकर सिरहाने बैठा और उसके बालों मे अँगुलियाँ चलाने लगा तो उसे बड़ा अजीब सा लगा । विवेक कभी उसके बालों में इस तरह अँगुलियाँ नही चलाता जब कि वानीरा ने सदा चाहा कि वह किसी की बाँह पर सिर धरे हुए हो और कोई उसके बालो मे अँगुलियाँ चलाता रहे । वानीरा ने धीरे से आँखें खोली । विवेक उसे फूले पलाश सा प्रसन्न हो देख रहा था । विवेक की प्रसन्नता प्रायः जल धुली धूप का आभास देती है ।

— बहुत थक गयी न ?

प्रातःकाल के आकाश में पीछे छूटे, फीके उदास चन्द्रमा सी वानीरा, विवेक का बोलना सुनती रही ।

— रात में जानते हुए कि आना न हो सकेगा, प्रतीक्षा करता रहा...

बहुत वृष्टि थी न ? क्या वहाँ तुम्हे मेरी याद आयी थी ?

वानीरा क्या जवाब दे ? विवेक कैसा विश्वासी सवेरा लग रहा था जबकि वह वितृष्णा सन्ध्या थी । वानीरा का मन हुआ कि विवेक के

कंधे पर सिर रख फूट पड़े। कैसे बारंबार वही जाने कहाँ-कहाँ भटक जाती है। कभी वह क्लाइड के चुम्बकत्व मे खिंची दिशाहारा तारिका बनी अज्ञात में खो जाती रही तो कल वह शलाका-पुरुष के साथ काल-पुरुष देखते-देखते भ्रष्ट हो गयी। स्वयं वानीरा को अपने पर विश्वास नही रह गया था तभी तो वह डिब्रूगढ़ मे चीजों मे घिरी व्यस्त रहती है। जब कोई व्यक्ति किसी को नही रोक पाता है तब कई बार चीजे ही उसे रोक लिया करती है।...उसके भीतर अपने ही व्यक्तित्व की तहें बनती चली जा रही थीं।

उसे क्षणान्त में डिब्रूगढ़ के आरंभिक दिन कौंध गये जिनकी पृष्ठभूमि कलकत्ता यात्रा मे ही तैयार हो चुकी थी। 'डायमंड-हारबर' की विशाल भूमिका मे वानीरा का स्वत्व क्लाइड की नीली आँखों में बहुत कुछ पढ़ ले गया। जलपोतों के भोपुओं की आवाज से गूंजे वातावरण में क्लाइड की वह बात सदा-सदा के लिए उसे भटका ले गयी,

— वानीरा! डिब्रूगढ़ चलकर देख लो कि क्लाइड की बात का विश्वास किया जाए या नही।

तीसरे दिन हुगली के किनारे जेटियों पर घूमते हुए सहसा वर्षा होने लगी थी। वर्षा की फुहारों ने चारों ओर कितना सघन कुहासा उत्पन्न कर दिया था। सब भीगते जल मे डूब गये थे। कही कुछ नही दिख रहा था। जहाज, स्टीमर, कम्पनियों की पथरीली विशाल इमारते, कुली, नदी सभी तो फुहारों में खो गये थे। क्लाइड ने वानीरा को आलिंगित करते हुए पूछा था,

— क्या निर्णय किया वानीरा? मैं तुम पर कभी कोई सामाजिक लांछन न आने दूँगा, मेरा विश्वास नही है क्या?

— नही मिस्टर क्लाइड! केवल विश्वास ही नही, अपने को सौंप भी रही हूँ।

सौंपी हुई वानीरा को क्लाइड ने कितनी प्रसन्नता से स्वीकार किया था इसे वानीरा एक जन्म ही क्या जन्म-जन्मान्तर तक नही भूल सकती; न वह क्षण, न क्लाइड का वह बँगला, न वे चाबगान की आक्षितिज

हरी झाड़ियाँ — डिब्रूगढ़ के वे आरंभिक दिन थे। विवेक उन दिनों मकान खोजकर व्यवस्थित होने की चेष्टा में था। क्लाइड के साथ वह लान में बैठी शाम की चाय पीते हुए ग्रामोफोन सुन रही थी। अज्ञात मे विवेक की प्रतीक्षा तो थी ही पर कही निश्चिन्तता भी थी।

— वानीरा ! पुरी छोड़कर यहाँ आ जाने का दुःख तो नही है ?

— शायद विवेक को है।

— तुम्हे तो नहीं है न ?

— मिस्टर क्लाइड ! दो व्यक्ति खेल सके ऐसा कोई ताश का खेल आप नही जानते ?

और पहले अँधेरे में एक टेबल पर बीच की लालटेन के दोनों तरफ ताश के पत्ते सम्हाले क्लाइड और वानीरा खेल रहे थे।

— वानीरा ! कई दिनों से एक बात कहना चाह रहा था कि क्या यह संभव है कि तुम दोनों यही रहो ?

— हाँ, आपका बँगला आपकी आवश्यकताओं से बड़ा है, पर शायद संभव नही।

— क्यों ? डिस्पेन्सरी के लिए शहर में कोई जगह खोज ली जाएगी। तब क्या आपत्ति हो सकती है ?

— आप को एक बात याद है ?

— क्या ?

— कलकत्ते में आपने कहा था कि आप अपना अल्बम दिखाएँगे।

क्लाइड को अब अच्छी तरह मालूम है कि वानीरा को जब किसी बात का उत्तर नही देना होता है या बहस नही करनी होती है तब बिलकुल ही दूसरी बाते शुरू कर देगी। चाहे आप एक बार पूछें या बारबार दुहराएँ, वह कभी उस बात की चर्चा नहीं करेगी। काफी देर तक वे लोग अल्बम देखते रहे थे। अधिकतर चित्र जानवरों के या शिकार सबधी थे। शायद कचनजंघा देखते हुए क्लाइड का चित्र था। वह ध्यान से देख रही थी कि तभी क्लाइड ने पूछा था,

— वानीरा ! तुम्हें कभी जिज्ञासा नही हुई कि मैने विवाह क्यों नहो

किया ?

— होती है ।

— पर तुमने कभी पूछा नहीं ।

— सुनती हूँ दार्जिलिङ बड़ी अच्छी जगह है ।

— फिर वही । जब तुम्हे कोई बात टालनी होती है तब मौसमों, स्थानों की चर्चा ले बैठती हो ।

आराम कुर्सी पर विश्रामती वानीरा पर धूप, पीली शाल सी बड़े हौले से बिछी थी । वह बोली,

— सच ही मिस्टर क्लाइड ! मौसमों-स्थानों की चर्चा करते बैठना बड़ा फिजूल सा लगता है, है न ? — अच्छा, अब की जब शेर का शिकार करें तो उसकी खाल मुझे भेंट करिएगा । करिएगा न ?

दूर-दूर तक केवल निर्जन । कमरे में घोर निस्तब्धता । खिड़की की राह बाहर का दृश्य भीतर से संयोजित लग रहा था । दीवारों पर उन्नीसवी शती के फैशन के अनुरूप बच्चों, कुत्तो, दृश्यों आदि के फ्रेमित चित्र सजे हुए थे । बारहसिंघों, शेरों के दो-चार मुँह तख्ती पर जड़े दीवारों पर जबड़े फाड़े डरावने बनने की चेष्टा में बड़े ही दयनीय लग रहे थे । फायर-प्लेस पर ईसा की एक बड़ी सी काँसे की मूर्ति सन्ध्या-धूप में चमक रही थी । एक तरफ कोने में नक्काशीदार स्टैण्ड मे साफ की हुई चमकती चार बन्दूकें खड़ी हुई थीं । दूर एक कोने में जहाँ कि 'वाटनाट' था, जिस पर कि चाय-काफी के डिब्बे, प्याले-तश्तरियाँ चमक रहे थे, एक बुक-शेल्फ था जिसमे शिकार-साहित्य की काफी किताबें रखी हुई थीं ।

— जानती हो मैने विवाह क्यों नही किया ?

क्लाइड अपना गेलिस ठीक करते हुए बोला ।

— जब-जब भी विवाह का दिन तय हुआ होगा जरूर ही उस दिन शेर का शिकार करने जाना पड़ा होगा और इस तरह ...

और आधी बात के बीच ही वानीरा किस कदर हँसने पर आ गयी थी कि जाती हुई संध्या-धूप हड़बड़ा कर हठात चली गयी । बहुत ज्यादा

हँसी सामने वाले को कितना छोटा बना देती है।
खिसियाते हुए क्लाइड बोला,
— इतना हँसकर तुम मेरा अपमान कर रही हो।
— सच ? आपको यही लगा ?
और वानीरा ने आँखे फैलाते हुए कुछ इस लहजे में कहा जैसे दो स्वर एक साथ बजा रही हो। मुख पर कुछ ऐसा परिताप का भाव था कि अब दृश्य का पटाक्षेप जैसे हो जाना चाहिए।
— न सही अपमान वानीरा ! पर ...
— मिस्टर क्लाइड ! मेरा ख्याल है कि विवेक को आने में देर लग सकती है।
बिना किसी प्रयोजन के विवेक के बारे में चर्चा चला कर वानीरा क्लाइड तक क्या अभिव्यक्त कर देना चाहती थी इसे वह समझ नही पाया।
— तुम क्या कहना चाहती हो ?
वानीरा मुसकरा कर खड़ी हुई। उसने तत्काल क्लाइड के प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नही समझा। ईसा के सामने रखी मोमबत्तियों में से एक को जलाते हुए बोली,
— मेरा ख्याल है कि यहाँ आकर बसने की बात तय कर मैंने भूल तो नही की, क्यो मिस्टर क्लाइड ?
वानीरा ने यह बात क्लाइड की ओर पीठ किये ही कही थी, अतएव वह उसके मुख को तो नही देख सका पर स्वर में जो थरथराहट थी उसने क्लाइड को उसके निकट पहुँचा दिया। वानीरा के कंधे पर हाथ धरते हुए बोला,
— वानीरा ! मै अपनी सामर्थ्य के साथ तुम्हारे साथ हूँ। और यह बात मै ईसा की प्रतिमा के सामने कह रहा हूँ। विश्वास नही आता है ?
वानीरा ने देखा कि सच ही क्लाइड की नीली आँखों में बड़े ही रेशमी आँसू के बारीक कण छलक आये है। वह सोचने लगी कि ऐसा सीधा

कप रखने जब गया तो वानीरा कुहनियाँ टिकाये तारे गिनने की चेष्टा करती रही। बचपन से वह तारे गिनने की मूर्खता प्रायः करती आयी है। अनेक बार झुंझलायी है पर अब तो जैसे उसकी आदत हो गयी है। अभी वह दस तक ही तारे गिन पायी थी कि फिर कुछ गडबडी हो गयी और गिनना छोड़, वह मात्र देखने लगी। उसने अदेखे भी क्लाइड का लौटना सुना तथा वह पास में आकर खड़ा भी हो गया है जानते हुए भी अनमुडी ही रही। उपरान्त आकाश विलोकते हुए ही बोली,

— पता नही कब और कहाँ पढ़ा था कि जब दो व्यक्ति प्रेम करते हैं तब आकाश में एक तारा जन्म ग्रहण करता है — क्या इस समय भी कोई तारा जन्म ग्रहण कर रहा है क्लाइड ?

क्लाइड के हाथों में वानीरा का चूड़ियों भरा हाथ था और उसे वह वैसे ही सहेजे हुए था जैसे वह कोई पूजा का फूल हो। तभी बाहर पोर्च में गाड़ी का शब्द सुनायी दिया था। क्लाइड ने चौंक कर कहा,

— शायद विवेक आ गया।

— हाँ, लेकिन अभी उसे यहाँ तक आने में समय लगेगा।

क्योंकि वानीरा जानती है कि बिना निश्चिन्त हुए विवेक यहाँ नही आएगा इसलिए वह निश्चिन्त बनी क्लाइड के हाथ में हाथ दिये लगभग सटी सी खड़ी रही। अपनी कमर पर क्लाइड का घूमता हुआ अपेक्षित हाथ भी अनुभव करती रही पर उसे जैसे किसी भी बात की व्यग्रता नही थी।

और उस दिन के विवेक में तथा आज के विवेक में, बल्कि कहना चाहिए पुरी वाले विवेक में कही कोई प्रत्यन्तर नही था। और सभवतः कभी नही हो पाएगा। शायद किसी में भी आमूल नही बदलता है।

— वानीरा ! आज से 'पथेर पांचाली' लगा है। कल ही टिकिट मँगवा लिये थे। चलो उठो, जल्दी से तैयार हो जाओ। मिस्टर क्लाइड और मेजर आनन्द भी बस आने ही वाले होगे।

— क्यों ? वे लोग भी क्या चलेंगे ?

— हाँ, क्यों ?
— क्या हम लोग कभी कही अकेले नही चल सकते ?
कहते हुए वानीरा अप्रत्याशित तेजी से उठी और नहानघर की ओर चल पड़ी। विवेक वानीरा के इस अनपेक्षित परिवर्तित स्वरूप को समझने की चेष्टा करता रहा। याद नही पडता कि आज के पूर्व भी वानीरा ने ऐसी आपत्ति की हो। बहुत सुदूर अतीत की बात ही और थी जब वानीरा और उसके बीच केवल उनके अपने वस्त्रों के और कुछ भी नही था। गत वर्षो में तो ये लोग अनिवार्य है यह मानकर भी वानीरा की प्रसन्नता के लिए वह सब कुछ करता रहा है। कालीपद ने मौसम्बी का रस बढ़ाते हुए विवेक को सूचित किया कि मेजर आनन्द और मिस्टर क्लाइड ड्राइग रूम में प्रतीक्षित बैठे हैं।

आकाश में टूटते तारों की चमकती रेखाएँ यहाँ-वहाँ दिपी पड़ रही थी। कुहरा अनायास ही छँटा लग रहा था। अभी-अभी जो पुच्छलतारा टूटा था उसकी कितनी तेज चमक थी कि विवेक, जो कि विगत मे आकण्ठ खोया हुआ था, संज्ञाहीन बना उस बीत गये व्ययतीत में रह रहा था, कैसे चौककर वह इस वर्तमान में लौट आया जिसमें रेल. रेल की खिड़की, रात का अन्तिम प्रहर, सोयी हुई वानीरा, कम्पार्टमेन्ट की मद नीली रोशनी और पहियों की सपाटे मारती अनवरत घरघर सब एक साथ ही उभर आये। स्मरणित विगत से संभावित वर्तमान में लौट आना वैसा ही होता है जैसा कि क्लोरोफार्म के प्रभाव के बाद दर्द भुगतने के लिए चेतना में लौटना। आकाश को खिड़की में लेकर विवेक फिर उदास, मौन हो देखने लगा।

ऐसे जाने कितनों के, कितने विभिन्न ढंग से अपने-अपने अनुभव सम्पन्न होते हैं। किसी एक के अनुभव दूसरे को नही काटते। सब अपने-अपने वृत्त में घूम रहे होते है। कितना अजीब है कि हमें पास का ही वृत्त नही दिखलायी देता। एक ही समय मे, एक ही आकाश देखते हुए एक सुखी हो रहा होता है और दूसरा परम दुःखी। लेकिन क्या एक दूसरे के साथ पात्रता, स्थान, स्थिति आदि बदले जा सकते है ? क्या हम यह नही चाहते कि हमारा दुःख यदि कोई और भोग लेता तो कितना अच्छा होता ? लेकिन क्या निरपेक्ष हुआ जा सकता है ? क्या कालातीत हुआ जा सकता है ? स्मृति न हो, क्या ऐसी किसी स्थिति, प्रलाप को छोड़कर, की कल्पना की जा सकती है ? बीत कर क्यो नही हममें से वह सब वैसे ही अदृश्य हो जाता है जैसा कि समय या घटित होने के अर्थ में वह हुआ रहता है। क्यों वह बीत कर हममे पछतावा भर जाता है ? जब भाग्य या नियति ही सब कुछ है तब क्यों नही हम निश्चिन्त होकर अकर्मण्य बने बैठे रहते है ? जब हमारे पुरुषार्थ को एक शीशेघर की भाँति टूटना ही है तब क्यो कर्म या संघर्ष किया जाए ? कैसी विडम्बना है है कि हर पुरुषार्थ को उसकी सफलता या असफलता के बाद भाग्य या नियति कह दिया जाए। साथ ही कैसी विपन्नता है कि विगत तो जाने कितनी शताब्दियो का हाहाकार लिये हमारी स्मृति में आरात्रिक हू-हू करता मौजूद रहता है पर जिस भविष्य के लिए हम सारे छल-छद्म करते है उसका बिलकुल अगला क्षण तक नितान्त अपरिचित होता है। भला ऐसे घोर अपरिचित पथ पर हम अपने जीवन को, पुरुषार्थ को किस उद्दामत्ता के साथ उछालते चलते है कि हम उसे जीत कर ही रहेगे। लेकिन उस समय को भी तो हम नही जानते थे जो अभी-अभी बीत कर विगत बना है और उसे भी हम वैसा ही जीत लेना चाहते थे, पर अब पछताते हुए सोचते है कि ऐसा न करते तो यहाँ न पहुँच कही अन्यत्र होते। लेकिन हम अगर यहाँ नही पहुँचते तो इस जगह और कौन पहुँचता ? तब, क्या हमारा यहाँ पहुँचना एक

पूर्व निश्चित भवितव्य था ? तब, क्या हमारा पुरुषार्थ हमारे प्रति ईमानदारी न निभाकर किसी पूर्व निश्चित भवितव्य का माध्यम भर है ?— क्या विवेक यह सब झुठला सकता है ? क्या वह इससे अस्वीकार सकता है कि आये दिन जो उपहार की चीजें, मूल्यवान भेंटे आती रही उन्हे अस्वीकारा जाता तो विवेक, सम्बन्धों के जिस जीर्ण कगार पर आ पहुँचा है वह तब वहाँ न होता ?
भले ही विवेक अपने को प्रताडित करे पर अतीत को कभी भी, कोई भी अपने भीतर से नही काट फेक सका है । भला उस शाम को भी विवेक अपने भीतर से कैसे काट फेंक सकता था ।

वह शाम !

पता नही वह किस रोगी को देखकर ताँगे से लौट रहा था। अपने भीतर वह डिब्रूगढ़ आने के बाद क्रमशः बोझ अनुभव करता ही चला गया था। लेकिन उस बोझ को उसने स्वयं अपने निकट भी कोई भाषा नही दी थी। इसलिए दिन भर डाक्टरी के बाद देर रात तक पढ़ते हुए अपने को व्यस्त बनाये रखा। वैसे आये दिन किसी न किसी के यहाँ चाय पार्टी या भोज होते, जिनमें व्यस्त रहना ही होता पर इनके अलावा भी वह देर रात तक पढ़ते हुए अपने को व्यस्त रखता ताकि उसका सामना स्वयं से न हो सके। सब की चेष्टा यही होती है कि अपने से साक्षात न हो सके क्योकि अपने निकट ही हम सबसे बड़े अपराधी होते है। दूसरो के साथ की गयी उपेक्षाओं के एक नही हजार कारण हमारे पास होते है पर अपने साथ की गयी उपेक्षाओं का एक भी कारण हमारे पास नही होता। डिब्रूगढ़ में उसने कितना चाहा कि वह डाक्टरी पेशे मे जिस समाज-सेवा के भाव से आया था उसे पुरी की भाँति यहाँ भी शुरू करे परन्तु वानीरा ने जिस प्रकार उसे चीजो, व्यस्तताओ और व्यक्तियो से बाँध दिया था उसमे सिवाय विवश हो जाने के वह और कर भी क्या सकता था ? वह मूक रह केवल देखने के लिए बाध्य था कि कैसे जूट की कार्पेटो पर कालीन आये तथा उन कालीनों पर डनलपिलो के दीवान और किमखाब

पर्दों ने अपना स्वत्व जमाया। उसे पूरा विश्वास था कि यदि वह इसी गति से मूक बना रहा तो वानीरा उसके तथा अपने पैरो के लिए आक्षितिज न केवल कालीन ही बल्कि डनलपिलो का लचकीलापन बिछा कर रहेगी। केवल विवेक को मूक-मौन बना रहना है। क्या वह नहीं जानता कि चीजे कितने मान के साथ आती है ? चीजे ऐसे व्यक्तियों के पास कभी नही आती जो उनके आने के बारे मे प्रश्न या अँगुलियाँ उठाते है। चीजें बड़ी लाजवती होती है। एक बार भी टोक दिये जाने पर चीजे आना बद कर देती है। इसलिए वह अपने को व्यस्त रखता था कि कही किसी दिन विवेक के भीतर विराजा यह प्रश्नकर्ता उन चीजो से कही कुछ पूछ न बैठे। शायद उसका सिर दर्द कर रहा था। ताँगे में बैठे हुए कुछ ठण्ढी हवा का आभास हुआ। घर पहुँच कर क्लाइड के यहाँ रात को भोज पर जाने की तैयारी करने के अतिरिक्त उसे और कुछ करना भी नहो था। ऐसी तैयारियाँ करना स्त्रियो को ही शोभा देता है। ठण्डी हवा के बोध ने सहसा उसे स्मरण कराया कि वह कई दिनो से ब्रह्मपुत्र के बाँध पर नही बैठा है। व्यस्त व्यक्ति कभी-कभी बडी मोटी-मोटी वस्तुओं, स्थितियों, संबंधों तक को प्रायः भूला रहता है। और जब हठात एक दिन बोध होता है कि अरे अपने ही शहर में एक नदी भी है या और कुछ ऐसा ही है तो कैसा आश्चर्य होता है। घर न जाकर उसने ताँगा बाँध के पास ही रुकवा लिया। जब वह बाँध के ऊपर पहुँचा तो ठण्ढी उन्मुक्त हवा ने उसका स्वागत किया। अंगो में भर उठी थकान पहले ही झोके के साथ झरती सी लगी। सामने प्रशस्त दृश्य था। बाढ़ के दिन थे। वैसे विषम बाढ़ अभी नही थी पर पानी मटमैला जरूर हो चला था। सामने के विस्तार मे, बल्कि सामने की पर्वतमाला के पदतल तक ब्रह्मपुत्र फैला हुआ था। बड़ा ही सागरवत फैलाव था। धनुषाकार किनारा पश्चिम मे दूर तक चला गया था। पश्चिमाकाश अपेक्षाकृत उजला था। किनारे के मकान और बंगले साँझ के इस प्रथम झुटपुटे में तया घिरते सन्नाटे मे अन्तिम बार के लिए आलोकित लग रहे थे।

साँझ के खिचाव मे हमेशा यह लगता है कि जैसे किसी ने हठात बड़ी ही दर्द भरी एक मीड़ लेकर आलाप पर ही ठुमरी को समाप्त कर दिया हो। सन्ध्या उपरान्त के बाद की नीरवता, अपने आरभ होते हुए अँधेरे के साथ बड़ी ही वासनामय लग रही थी। सन्नाटा पेड़ो के स्वत्व तक मे समाया लग रहा था। वातावरण मे केवल ब्रह्मपुत्र ही बातें कर रहा था। दूर-पास के पर्वत तथा वनराजि बड़ी तेजी से अँधेरे में डूबते जा रहे थे। कुल मिलाकर आकाश नीले की अपेक्षा अंगूरी अधिक था। बाँध के पत्थरो को रोकने वाली जालियो के पास बाढ का पानी कलकला रहा था। दो-चार नावे छपछप करती बाँध की बुर्जी की गोलाई के दूसरी ओर बँधी हुई हिल-डुल रही थी।

विवेक जाकर एक नाव में बड़े ही चेतनसंज्ञ हो लेट गया। लेटते ही उसे लगा जैसे बरसो बाद उसका अपने से साक्षात हुआ हो। जिस क्षण व्यक्ति अपने को सम्पूर्ण अनुभवता है वह क्षण उपलब्धि का होता है। अपने निकट अपनी ही उपस्थिति से प्रायः हम परिचित नही होते इसलिए कुछ ही देर में बड़ा बोझ-बोझ सा लगने लगता है। बोझ, अवांछ्य का होता है। पर इस क्षण विवेक को बोझ बिलकुल ही नही लगा। बल्कि हिलती डुलती नाव के संग प्रवेग को अनुभव करता मात्र अनमना सा था। आकाश को सीने पर झेलते हुए बड़ा सार्थक अनुभव होने लगा। सभवतः पहली बार आकाश से अँधेरे के झरे जाने को न केवल देखा ही वरन अनुभव भी किया। बल्कि उसे लगा कि उसके कपड़ों तक पर जरूर ही अँधेरा झरा है जिसे वह बाद में झाड़ गिराएगा। उसे लगा कि न केवल उसका शरीर ही थका था बल्कि उसका मन भी बुरी तरह थका था, और जिसकी प्रतीति उसे इस समय हुई। वह इस समय ब्रह्मपुत्र के सग अज्ञात में प्रवाहित था, आकाश में खोया हुआ था तथा विस्तार मे विलीन था। ऐसे ही क्षण मे कितनी प्रसन्नता होती है यह सोच कर कि हम अब कहीं नही है। सोचने से, चेतना से परे ऐसी स्थिति होती है। विवेक भी कुछ नहीं सोच रहा था क्योंकि ऐसे अप्रतिम क्षण को सोचकर हेय नहीं करना चाह रहा

था। सोचने के लिए सम्पूर्ण जीवन है। ऐसा क्षण केवल भोगने के लिए होता है। अतएव अपने न होने को भोग रहा था।
शायद तभी किसी के बोलने का स्वर सुनायी पडा था। जिसके साथ ही उसे यह भी ध्यान आया कि अब घर चलना चाहिए अन्यथा क्लाइड के यहाँ जाने में देर हो सकती है तथा व्यर्थ ही वानीरा को परेशान भी होना पडेगा। जिस आवाज पर वह सचेत हुआ था वह किसी एक जोड़े की थी। जोड़ा बाँध पर, पानी नापने वाले पत्थर के पास खड़ा दिखा। साँझ की मन्द हवा मे उस स्त्री का उडता आँचल, पख लग रहा था। साथ वाला व्यक्ति सैनिक था यह भूषा के आकार-प्रकार, चाल एव ऊँचाई से स्पष्ट था। लेटे हुए विवेक को वे दोनों आकाश में खिचे छायाचित्र मे लगे। पुरुष ने नारी का हाथ थाम रखा था। स्त्री रह-रह कर अपने उडते कुन्तल हटा रही थी। विवेक को स्पष्टत: ईर्षा तो नही पर किंचित असुविधा जैसी हुई। साँचे मे ढली स्त्री की देह-यष्टि साड़ी मे लिपटी होने पर भी आकाश की पृष्ठभूमि में उभरी लग रही थी। शायद ये दोनो भी बाढ देखने आये थे। कुछ देर खड़े रहने के बाद नाप वालें पत्थर के चबूतरे पर स्त्री बैठ गयी। पुरुष बाँध की जालियो मे पैर फँसा कर कँकड़ी मारता बैठा था। विवेक उठने की पूरी मानसिक तैयारी कर चुका था कि तभी उसने नि.शब्द वातावरण में दोनों की हँसी, बल्कि कहना चाहिए खिलखिलाहट जैसी सुनी। एक क्षण के लिए उसे घोर आश्चर्य हुआ क्योकि वह हँसी या खिलखिलाहट तो पूरी तरह पहचानता है। ऐसे तो वानीरा ही खिल-खिलाती है, यद्यपि बहुत कम।
— वानीरा।

और आनन्द की आवाज सुन कर उसे किंचित भी आश्चर्य नहीं हुआ क्योकि खिलखिलाहट पहचानने के साथ वह आनन्द को सहज ही पहचान ले गया था। वानीरा ने जरूर ही हुंकारी भरी होगी पर विवेक उसे नही सुन सका। बाढ़ का शब्द स्पष्टत: बाधक लग रहा था। थोड़ी देर पूर्व इस जोड़े को लेकर उसके मन में जो कल्पना आयी थी

उससे वह स्वय भी सुखी हुआ था पर अब उसे वह सिर दर्द बढा सा लगने लगा जिसके लिए वह यहाँ आया था। यह नही कि उसने वानीरा का किसी के साथ आना-जाना न देखा हो, या न सोचा हो, पर आज जाने क्यो असहनीय लगा। वह जाने किस प्रेरणावश नाव पर से उठा और जालियाँ पकडते हुए बुर्जी पर पहुँचने की चेष्टा करने लगा। अभी वह आधा ही पहुँचा था कि उसे आनन्द का वाक्य सुनायी दिया,

— शायद मेरा तबादला इलाहाबाद हो जाए।

विवेक ने चढना छोड वानीरा की बात सुनने की पूरी चेष्टा की। परन्तु वानीरा कुछ नही बोली। इसके बाद काफी बडा मौन फल आया था, जो कि अँधेरा घिरने के साथ-साथ प्रगाढ होने की चेष्टा कर रहा था। विवेक बुर्जी की तरफ न जाकर बाँध की ओर बढा। वह काफी सतर्कता से चढ रहा था कि तभी उसे आनन्द की बात का आधा भाग सुनायी दिया,

— क्या विवेक राजी हो सकेगा वानीरा ?

विवेक के लिए यह आधी बात पूरी थी। उसका दिमाग झनझना रहा था पर वह जालियाँ पकड़ने में काफी सावधानी बरते हुए था क्योकि अगर वह गिर पड़ा तो शोर होने पर सभव था कि आनन्द आता और तब जो विषमता उत्पन्न होती वह किसी के लिए भी वाछित नही होती।

बाँध पर पहुँच उसने देखा कि सारा दृश्य धुँधला गया है। सडकों की बत्तियाँ झिलमिला रही थी। बाँध पर ज्यादा देर खड़े रहना उचित नही था। पास ही आनन्द की जीप खड़ी थी। किसी भी क्षण वे लोग भी उठ सकते थे। इसलिए विवेक तेज कदम बढ़ाता एक अपरिचित गली मे से होता हुआ बढ़ गया।

घर पहुँचने पर कालीपद ने बतलाया कि मेजर आनन्द आये थे और वानीरा उन्ही के साथ गयी है, भोज पर विवेक को स्वतः ही जाना होगा। जाने क्यो उसे हँसी आ गयी। उसे अचानक अनपेक्षित हँसते

देख कालीपद का चौकना स्वाभाविक था ।

क्लाइड के भोज में विवेक अप्रत्याशित रूप से अधिक मुखर रहा। वैसे वह सामाजिक सदा से रहा है। यह बात दूसरी है कि सामाजिकता का अर्थ उसके निकट दूसरा ही था जैसे यह कि वह प्रत्येक के लिए एक धैर्यवान श्रोता रहा है इसलिए सभी को उससे बातें करना सुहाता रहा है। वैसे लोगो ने कभी यह नही देखा कि स्वय विवेक ने उनसे कितनी बाते की है। या तो वह सुनते हुए मुस्कराता रहा होगा या बीच-बीच मे आश्चर्य प्रकट कर वक्ता को बोलते जाने का प्रोत्साहन देता रहा होगा। इसलिए आज जब उसे लोगो ने मुखर देखा तो सबको असहज लगना स्वाभाविक था। आनन्द ने सदा उसे इतिहास के बारे मे बताया होगा पर आज जब स्वय विवेक ने उसे प्राचीन इतिहास के उन छूटे हुए स्थलो के बारे में बताना शुरू किया जिनके बारे में सारे इतिहासज्ञ चुप है तो आनद का आश्चर्यित होना उचित ही था।

— मेजर आनन्द ! अशोक की कलिंग-विजय में जिन दो लाख प्राणियों की हत्या हुई वे कौन लोग थे ?

मेजर आनन्द अपनी उसी अनिंद्य मुस्कान के साथ बोला,

— क्यों ? कालिंगवासी ।

— सो तो थे ही, लेकिन तत्कालीन भारत के राजनैतिक इतिहास तथा धार्मिक यथाक्रम को देखकर आप किसी विशेष निर्णय पर पहुँचे है ?

— मै आपका संकेत नही समझा ।

विवेक ने काँटे से टेबल-क्लाथ पर भारत का मानचित्र बनाते हुए कहा,

— यह देखिए, समस्त दक्षिण में, पश्चिम में तथा कलिंग अर्थात उडीसा तक जैन धर्म का प्राबल्य था । और आप जानते ही हैं कि अशोक के पौत्र सम्प्रति ने जैन धर्म के लिए वही किया जो कि अशोक ने बुद्ध धर्म के लिए । अर्थात, जैन धर्म स्पष्टतः बुद्ध धर्म को चुनौती दे रहा था ।

— चुनौती वाली बात की संभावना के लिए ऐतिहासिक तथ्य तो नहीं

है और बिना उनके —

टेबल क्लाथ वाले मानचित्र की ही ओर देखते हुए आनन्द को उत्तर देते हुए विवेक फिर बोला,

— क्या आप सारे कारण इतिहास मे ही पाना चाहते है ? — और आप देखिए कि अशोक के कुल डेढ़ सौ-दो सौ वर्ष बाद ही कलिग मे जैन सम्राट खारवेल का उदय एक प्रचण्ड धूमकेतु की भाँति होता है। क्या ऐसी शक्ति निष्प्रयास उत्पन्न हुआ करती है ? कलिग की मेधा को अशोक ने झुका दिया था। पर उस झुकाने में वह स्वय इतना भयभीत हो गया था कि सदा के लिए युद्ध न कर सका। कलिग की वही पराजित मेधा खारवेल मे पुन. प्रस्फुटित होती है और तेरह वर्ष का दीर्घ प्रवास करते हुए हाथो में खड्ग ले दजला-फरात तक छा जाती है। अशोक का साम्राज्य ध्वस्त हो जाता है, क्या इसे आप कलिग का वह क्रोध नही स्वीकारते जिसे अशोक ने दो सौ वर्ष पूर्व दो लाख निरपराध जैनो के वध से अंकुरित किया था ? — आज की अपेक्षा समय की गति तब बहुत मन्द हुआ करती थी और फिर किसी भी राष्ट्र, जाति या धर्म के जीवन में दो सौ वर्षो का समय भी कोई समय होता है ? अभी तक कई धर्म तो हजार-डेढ हजार वर्ष के बाद भी बड़े बचकाने है। और मेजर आनन्द ! इसी सन्दर्भ में शालिवाहन साम्राज्य तथा शुग साम्राज्य की स्थापनाओं को भी देखेंगे तो अनेक आश्चर्य जनक स्थापनाएँ आपके सामने आएँगी।

विवेक जिस गंभीरता एवं तन्मयता से बोल रहा था उससे सारे लोग सन्नाटे में थे। मेजर आनन्द वैसे तो मुस्कराता रहा पर क्रमश: अन्तर में गंभीर होता चला गया था। बोलते हुए विवेक के हाथो में काँटा, कलम लग रहा था। वनीरा को विवेकके इतिहास के ज्ञान पर आश्चर्य नहीं था बल्कि उसके इस तरह के बोलने पर न केवल आश्चर्य ही था लबिक किसी सीमा तक वह हतप्रभ हुई। विवेक ने देखा कि उसके हठात मौन हो जाने पर टेबल पर बड़ा वजनी मौन छा उठा है

तो उसे लगा कि इस अवांछिततता का कारण वह स्वयं ही है इसलिए बिना किसी अन्य की प्रतीक्षा किये वह स्वयं उठते हुए बोला,

— आई एम सारी जन्टलमैन !

यह कहना शायद ज्यादा अवाछित था और जिसे लोगों ने अनुभव भी किया। जो मौन हठात आ गया था वह टूटा अवश्य, लेकिन दो-दो तीन-तीन के झुण्ड की छुटपुटी बातचीत में बँट गया। मेजर आनंद और विवेक दोनों बाहर निकल कर लान में टहलते हुए बतियाने लगे। कुछ, बरामदो मे निकल कर आश्वस्तता अनुभव करते हुए अनुकूल मौसम आदि की हल्की-फुल्की बातों में बझ गये।

सभवत: सभी को काफी की प्रतीक्षा थी। वानीरा ने यह प्रतीक्षा, पियानो पर अँगुलियाँ चलाते हुए आरंभ की। अनेक दिनों क्या, बल्कि महीनों बाद वह किसी वाद्य के लिए बैठी थी। उसकी लम्बी पतली अँगुलियाँ सफेद काले पर्दो पर हौले-हौले घूम रही थीं। शायद वह कोई राग नही बल्कि कोई गत बजा रही थी। रोमन लंबे गले का उसका स्लेटी नौका-कट ब्लाउज तथा उसी रंग की साड़ी में वह अप्रतिम लग रही थी। दाहिने हाथ की अँगुली में माणिक दमक रहा था। क्लाइड पियानो पर झुका गत सुन रहा था।

— आप तो इतना पश्चिमी संगीत सुन चुकी हैं, क्यों न कभी कोई सिम्फनी बजाने की कोशिश करती ?

क्लाइड की बात वानीरा ने यथावत बजाते हुए सुनी तथा अत्यन्त स्वल्प सा उत्तर भी दिया,

— नही।

— क्यों ?

इस बार जैसे वानीरा को उत्तर की कोई जल्दी नहीं थी। वह अत्यन्त आत्मस्थ भाव से मात्र बजाती रही, जैसे वह अकेली ही यहाँ पर हो। थोड़ी देर बाद थकी अगुलियाँ पर्दों पर निढाल रखे-रखे ही बोली,

— इसलिए मिस्टर क्लाइड ! कि उसकी स्वर-व्यवस्था के लिए भिन्न सस्कार तथा भिन्न व्यक्तित्व चाहिए। — जब भी सिम्फनियाँ

सुनती हूँ तो एक वातावरण अनुभव होता है, दूर, जाने कहाँ-कहाँ भटक उठती हूँ, बड़ा ही रम्य लगता है पर भैरव या शकरा, जौनपुरी या आसावरी आदि सुन कर जो तदाकारिता लगती है वह रम्यता से बिलकुल अलग होती है।

— यह तो संस्कार की बात है वानीरा जी ! जो राग आप को कोमल लगता है वह सभवतः वैसा न हो। आप जानती है कि 'देस' बडा हो कोमल और करुण राग है पर एक बार मैने अपने एक अंग्रेज मित्र को वह राग सुनवाया तो बोले कि बडा ही 'गे' राग है। बिलकुल ही भिन्न प्रभाव हुआ उन पर। इसे आप क्या कहेगी ?

— पूर्व और पश्चिम के मनस का भेद।

— एक तो ऐसी बात नही है। दूसरे मान लीजिए कि यदि ऐसा है, तो क्या उचित है ?

वानीरा हँस पड़ी, बोली,

— उचित न होता तो वह होता क्यों ?

— इसलिए हुआ कि आज के पूर्व सम्पर्क की वैसी सुविधाएँ न थी। इट वाज नेचर टू डिवाइडेड द ह्यूमनिटी। यह भेद केवल ऐतिहासिक है, वास्तविक नही।

— यदि यह ऐतिहासिक है तब तो उसका औचित्य और भी सही है। — वैसे मिस्टर क्लाइड ! दूर क्यो जाते है, क्या दो व्यक्तियों के बीच यह भेद नही होता ? क्या यह भेद ही व्यक्तित्व नही देता ? और बिना व्यक्तित्व के क्या व्यक्ति, क्या जाति, क्या राष्ट्र कोई भी तो अर्थ नही रखते।

काफी आ चुकी थी। ट्रे से एक कप लेकर क्लाइड ने वानीरा को दी। मेजर आनन्द और विवेक तब तक भी इतिहास में बझे हुए थे। कमरे मे आते हुए भी उनकी चर्चा यथावत चल रही थी।

— लगता है डाक्टर विश्वास आज मेजर आनन्द का इतिहास का गर्व खण्डित करके रहेगे।

विवेक चौंका। उसे स्वयं इतनी देर बाद अनुभव हुआ कि क्लाइड की

इस बात में कही न कही सचाई है। अज्ञात मे वह शाम से ही अस्तव्यस्त था, जिससे वह लड़ता रहा है तथा जिस पर सयम किये रहा। यह संयम का ही प्रतिफल था कि उसका आनन्द के प्रति आक्रोश इतिहास की चर्चाओं मे व्यक्त हो रहा था। यदि आज की अस्तव्यस्तता न होती तो वह जीवन पर्यन्त यह कभी व्यक्त भी न होने देता कि इतिहास में उसकी न केवल रुचि ही है बल्कि गति भी। जिस समय लोग चलने को हुए काफी रात जा चुकी थी। प्राय इस तरह के अवसरों पर आनन्द या क्लाइड कोई न कोई अपनी मोटर से विवेक-वानीरा को घर तक छोड देते रहे है पर एक तो मौसम बहुत सुहाना हो आया था तथा बडी अच्छी चाँदनी छिटक आयी थी इसलिए विवेक ने ताँगे से घर चलने का प्रस्ताव वानीरा से कुछ इस तरह किया कि दूसरे तो नही ही समझ सके पर स्वय वानीरा भी कुछ समझ न सकी कि आज विवेक किसी की कार पर न जाकर ताँगे से क्यों जाना चाहता है? पर वानीरा और दिनो की तरह उसकी इस असगत बात को काट भी न सकी।

जिस समय क्लाइड का नौकर ताँगा लेकर आया बाकी के सारे अतिथि, और तो और आनन्द तक जा चुका था। जब सब जा चुके थे तब क्लाइड, वानीरा के साथ विवेक दालान मे मोढे पर बैठा ताँगे की प्रतीक्षा कर रहा था। लेकिन वस्तुत वह ताँगे की प्रतीक्षा न कर जैसे लोगों के चले जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। क्योंकि जैसे ही मेजर आनन्द की जीप रवाना हुई तो विवेक ने बडे ही सन्तोष की साँस लेते हुए कहा,

— मिस्टर क्लाइड! आप क्या सोचते है कि मेजर आनन्द कैसे व्यक्ति है?

शायद वानीरा इस तरह के प्रश्न के लिए बिल्कुल तैयार नही थी परन्तु क्लाइड इसके ठीक विपरीत ऐसा लगा कि जैसे वह इस प्रश्न के लिए कई दिनों से प्रतीक्षित था। क्लाइड इस बीच अपना पाइप भरने के लिए भीतर गया। वानीरा को चूँकि विवेक का यह प्रश्न आपत्तिजनक

लगा इसलिए क्लाइड की अनुपस्थिति का लाभ उठा, वह बोली,
— तुम इस प्रश्न के द्वारा क्या जानना चाहते हो ?
— यही कि आप लोग मेजर आनन्द के बारे मे क्या राय रखते है ?
वानीरा को विवेक के सीधे-सीधे पूछने पर काफी असुविधा हो रही थी। विवेक के इस सहसा बदले हुए रूप को वह समझ नही पा रही थी। वानीरा का असुविधात्मक मौन देख विवेक बोला,
— मै जानता था कि इस तरह का प्रश्न तुम्हे असुविधाजनक लग सकता है इसलिए मैने क्लाइड से पूछा। तुम्हें यदि मेरे इस पूछने पर आपत्ति हो तो मै प्रश्न वापस भी ले सकता हूँ या कहो तो किसी अन्य दिन के लिए भी टाल सकता हूँ।
वाक्य समाप्त हो ही रहा था कि क्लाइड पाइप ताजा कर लौटा। तम्बाकू की तेज गंध हवा में भर उठी। क्लाइड जिस निश्चिन्तता से आकर पाइप पीने लगा उसने लगा कि वह उत्तर देने की बहुत जल्दी में नही है। बड़ा अप्रीतिकर मौन साधे तीनो बैठे रहे। तब क्लाइड को ही अगत्या बोलना पड़ा।
— डाक्टर विश्वास ! आपको शायद नही मालूम होगा कि मेजर आनन्द का यहाँ से तबादला हो गया है।
विवेक-वानीरा दोनो सुन कर चौके। बल्कि वानीरा तो बोली,
— ऐ ?? कब ?? कहाँ ??
—जरा रुकिए मिस्टर क्लाइड !
विवेक ने क्लाइड को आगे बताने से जैसे बरजा। एक क्षण वह रुका और फिर बोला,
— क्या आप जानते हैं कि जिस समय हम लोग लान पर टहल रहे थे मेरी और मेजर की क्या बाते हो रही थी ? — नही न ? मैने मेजर आनन्द का हाथ देखकर बताया था कि बहुत जल्द उनको स्थान परिवर्तन करना होगा।
कह कर बड़े ही नाटकीय भाव से विवेक चुप हो गया। विवेक हाथ देखना जानता है यह स्वयं वानीरा के लिए भी खबर ही थी। उसके

मुख पर जाने क्यों अप्रिय आश्चर्य था। क्लाइड ने विवेक की इस सूचना पर हँसते हुए कहा,

— तब तो आप यह भी बता सकते हैं कि कहाँ जाना होगा ?

— कहाँ के बारे मे नही कह सकता पर किधर जाना होगा यह मैंने बता दिया है।

— अच्छा तो बताइए किधर जा रहे है वह ?

— पश्चिम में जा रहे है।

— तब तो मेजर आनन्द को बहुत आश्चर्य हुआ होगा।

— नही। आश्चर्य मुझे हुआ कि मेजर आनन्द को भी हाथ देखना अच्छा आता है।

जाने क्यों विवेक ने यह बात कह कर वानीरा की ओर देखना शुरू किया। क्लाइड को लेकिन बातों में मजा आ रहा था, बोला,

— क्या उन्होने आपका हाथ देखा ?

विवेक हँसते हुए बोला,

— देखा ही नहीं साहब। बल्कि भविष्यवाणी तक की कि मेरा भी स्थान परिवर्तन है और वह भी पश्चिम ही की ओर।

वानीरा का व्यर्थ ही रग फीका हो गया था। जिसकी कोई आवश्यकता नही थी। कम से कम क्लाइड को तो यही लगा, बोला,

— लीजिए आपके स्थान परिवर्तन की बात सुनकर मिसेस विश्वास उदास हो गयी।

— नही तो।

और शायद तभी ताँगे की आहट आयी थी। चाँदनी छिटक कर पाटल हुई जा रही थी। पैरों के पास चली आयी चाँदनी में वानीरा बारम्बार अपना पैर भिगोती लग रही थी। 'नही तो' कह कर वह लगभग उठते हुए बोली,

— अच्छा तो अब चले। तो ऽऽ मिस्टर क्लाइड !...आज के भोज के लिए अनेक-अनेक धन्यवाद।

विवेक अभी तक बैठा हुआ था। उसने आचरण और स्वत्व मे ढली

अपनी पत्नी को आज बरसों बाद तौलने वाली दृष्टि से देखा जैसे वह किसी अन्य की सुन्दर पत्नी को प्रशंसाभाव से, ईर्षाभाव से नही, देख रहा हो। घुटनों पर हथेलियाँ फटकारते हुए वह बोला,
— क्या तुम सचमुच ही उदास हो गयी वानीरा ?
— अच्छा, अब चलिए।
क्लाइड ने दोनों को बरसाती तक छोडते हुए एक बार फिर कहा,
— मै समझता हूँ काफी देर हो गयी है आप लोगो को। अगर आप लोग चाहे तो मै कार से छोड दूँ। काफी दूर जाना है।
अभी वानीरा कुछ कहे इसके पूर्व ही विवेक तपाक से बोला,
— मिस्टर क्लाइड ! हम लोग अनावश्यक रूप से सामाजिक हो गये है फलस्वरूप याद ही नही पडता कि मै और वानीरा साथ रहते भी हैं। इसी बहाने अनुभव तो होगा कि हम लोग अपने लिए अभी भी है।
एक बहुत बडो बात पायदान पर पैर रखे हुए विवेक कह गया था। जिसे सुन कर सीट पर बैठी वानीरा ने, औचक में दिये गये कड़वे घूँट सा पिया और अवाछित दक्षिणा सा ग्रहण किया। लेकिन इसके विपरीत क्लाइड ने बडे ही भद्रोचित मुसकराते तथा अपने पाइप से ढेर सारा धुँआ छोडते हुए सुना। विवेक के कधे से परे, जैसे छायातप में बैठी हो, वानीरा की ओर जिज्ञासा भाव से देखा जैसे किसी फूल की ओर देखा जाता है। पायदान पर जिस आसन्नता से विवेक चढा तथा सीट पर जिस संकोची निश्चन्तता से बैठा उसमें स्पष्ट सकेत था कि वह जानता है कि वानीरा तथा क्लाइड मे प्रतिसंकेत चल रहे है तथा जिनके प्रति वह प्राय: अवज्ञ होकर अवसर देता रहा है और इस समय भी वह अवसर दे रहा है। सीट पर उसके बैठने तथा ताँगे के चलने मे अधिक विलम्ब नही हुआ पर क्षणान्त में ढेर सारे चाँदनी भीगे क्षण नन्हें-नन्हे जुगनुओं की भाँति गुजर कर अज्ञात मे चले गये सा लगा।
रास्ते भर दोनों लगभग मौन ही बने रहे, यही कहना होगा।

लेकिन क्या वह मौन था ? देखने वाले को ऐसा लग सकता था पर देखे जाने वाले पात्रों की स्थिति इसके एक दम विपरीन थी । प्राय: यही होता है । प्रत्येक व्यक्ति आर्कटिक का वह समुद्र होता है जो ऊपर से बडे विपुल भाव से कठोर, मौन तथा निरभ्र भाव से हिम-युक्न बना रहता है पर थोडे नीचे ही अनन्त सृष्टि, प्रवाह, उष्णता, गहराई जाने क्या-क्या प्रवाह, जीवित मौजूद होता है । . केवल घोडे की टापे तथा पहियो का एकरस स्वर, प्रशस्त रात्रि भाव के निर्जन परिपार्श्व मे बँधे-खिचे वे दोनो अपना-अपना हाहाकार लिये लगभग आधे रास्ते तक चलते चले गये । शहर की शुरुआत होने को ही थी कि विवेक ने अत्यन्त सहज, साधारण भाव से, जैसे हठात याद आ गया हा, की तरह भीतर की जेब मे हाथ डाल कर मुसकराते हुए एक केस निकाला और वानीरा की ओर बढाते हुए कहा,

— इतने कीमती उपहार को तुम शायद जल्दी में बाहर वाली आल्मारी मे ही छोड़ आयी थी । कम से कम सेफ में तो रख आना चाहिए था ।

विवेक द्वारा दिये जाने वाले नेकलेम के केस को देख कर वानीरा का आसन्न हो जाना स्वाभाविक था ।

क्षणान्त में वह क्षण, आनन्द, उमके द्वारा दिये जाने वाला यह नेकलेस सब निर उठे । — कैसे वह खिडकी के पाम खडी बॉमो के कुज मे चहचहाती गौरैयाओ को फुदकते देख रही थी । अपरान्ह की केशवत लहराती हवा मे हरी मछलियो सी बॉस की पत्तियॉ कैसे तिर-तिर उठ रही थी । आकाश के परिपार्श्व मे बॉम का वह कुज किसी चीनी चित्र की सजीव प्रतिकृति मा लग रहा था । वह अनात्म बनी खिडकी के बाहर के सर्वात्म मे खोयी हुई थी । कमरे मे बैठा हुआ, आनन्द चाय पी रहा है, की उसे चेतना उस क्षण मे थी या नही, यह नही, कहा जा सकता था । वह उठकर खिडकी तक इसलिए चली आयी थी ताकि वह आनन्द के देखने को टाल सके । आनन्द जब उसे एकान्त में देखता है तो उसकी दृष्टि बड़ी चीरहरणी सी हो ज ती है । ऐसे

समय अज्ञात में वह अग-अग से परिधान पकडे रहती है अन्यथा वह कैसी द्रौपदी बन आर्त-विवमना हो उठे न ? वह आद्यन्त आनन्द को बूझती है। आनन्द उसे उस गर्त के समान लगता है जिसमे एक बार झाँकने पर व्यक्ति विवश हो उसी मे खिचता चला जाता है। तभी तो वह प्रायः आनन्द का एकान्त अब बचाती रहती है। आज भी वह दोपहर में सोने के प्रयास मे लेटी हुई "देश" का ताजा अंक उलट-पलट रही थी कि कालोपद ने आनन्द के आने की सूचना दी थी। वह कितनी घबरा उठी कि ऐसे समय तो आनन्द कभी नही आता रहा है, तब, क्यो ? और तभी अनेक दिनों उपरान्त सिवोल्लियन सूट मे उसे अपने सामने खडे देख वह केवल स्वागत करने के लिए बाध्य थी। कैसे वह अनिवार्यवत खडा था। और फिर तो मन कपडे की तह सा खुलता ही चला गया था। वानीरा कैसे सदा इस बात पर हँसती है कि आनन्द सब के सामने कितना गंभीर बना रहता है पर उसके सामने तो ऐसा कि बस अगर वह हाफपैंट पहना दे तो एक दम किशोर सा लगे न ? खूब सारी बाते करना आता है आनन्द को। आइसक्रीम से लेकर अपने कर्नल तक की बाते नकलें, बोलियाँ क्या-क्या नही सुनाता रहा है वानीरा को ? कही कोई छल-छद्म नही, बिल्कुल शरदकालीन झरने के निर्मल जल सा। वानीरा को आनन्द अपनी इसी भुवन मोहिनी मुस्कान, सरलता एवं दृष्टि से बारबार देख कर टटोलता है जिससे बचने के हेतु वह खिडकी पर आ खडी हुई थी। वैसे वह परात्परा ही थी पर अपने पीछे आनन्द को आते भी सुना था तथा खडे होते भी अनुभव किया था। कैसे उसकी अपनी साँस किसी अप्रत्याशित में माला के मनकों की भाँति बिखर उठी थी। और वह हड़बड़ा कर समेटने के लिए कैसी विवश लग रही थी, कि तभी दो दृढ हाथ उसे अपने गले के दोनों ओर अनुभव हुए। वह समग्र स्नात हो उठी। बड़ा भीगा-भीगापन सारी देहयष्टि मे वैसे ही फूट उठा था जैसे वह केवल का पुष्ट वृक्ष हो और हाथी की सूँड ने उसे दबाकर निचोडना आरंभ किया हो। वह कैसा टूटा-टूटा सा बरजती रही पर उसे विश्वास है

कि उसके भीतर ही घुटा रहा और जब अपने गले में यह नेकलेस बड़ा ठण्ढा सा एवं किंचित भारी सा अनुभव हुआ तो वह आँखे बद किये ही वापस अपने मे लौटी। अपने कधों पर दस अँगुलियाँ वसे ही अनुभव की जैसे वह आदि-काल से ऐसी ही प्रतिमा बनी खड़ी है और वे दस अँगुलियाँ उसके कधे पर मूर्तिकार ने बाद मे चिपका दी हैं। वह लगभग उन अँगुलियों को उतारने को ही थी कि,

— वानीरा ! क्या कोई भी आज तक वस्तुओ के द्वारा अपने अन्तर को किसी को सौप सका है ?

आनन्द की बात पर वह थरथराते हुए मात्र यही कह सकी

— पता नही आनन्द ! पर, तुम क्या सौपना चाहते हो और किसे ?

और वानीरा ने विवेक द्वारा दिये जाने वाले केस को बड़ ही ठिठुरे हाथों से बिना उसकी ओर देखे ही निर्जीव भाव से वैसे ही थामा जैसे वह केस न होकर स्वय क्षण ही हो। जैसे ही गिरे-गिरे ढग से उसे थामा वैसे ही तत्काल वानीरा को विवेक का आज का सारा व्यापार, व्यवहार सब कुछ स्पष्ट हो गया। पायदान पर वह जिस निरपेक्ष भाव से सिर नीचा किये अभी ताँगे पर चढा था वह भी उसे सायास ही लगा।...वैसे यह नही कि आनन्द के अथवा दूसरो के इस तरह के उपहारों के बारे में विवेक को वह नही बता देती रही है पर आज जिस भावावेश मे वह यह नेकलेस बाहर ही छोड़ आयी तथा उसमें की वह चिट...जरूर ही विवेक ने उसे भी पढ लिया होगा। संभव है न भी पढ़ा हो, लेकिन क्यों नही पढ़ा होगा ?— कैसा अजीब सा सम्बोधन करता है आनन्द न ? — 'मेरी यक्षप्रिया !' — और छूटे वस्त्र सा केस भी औचक में उसके हाथों से छूट गिरा। पहले ही गिरा-गिरा सा तो उसे वह थामे थी ही। विवेक ने देखा कि वानीरा निस्पृह बनी बैठी है। न केसे लेते समय ही उसने कोई भाव व्यक्त किया था और न अब गिरते समय ही कोई व्यजना। पूजा के फूल सा ही, प्रतिमावत उसे ग्रहण भी किया था एवं अनासक्त भाव से 'वासांसि जीर्णनि' की तरह गिर भी जाने दिया है। विवेक कही अतर मे सुखी हुआ।

केस उठाकर उसने वापस जेब में रख लिया। चाँदनी में बिल्लौरी ठण्ढापन था। चायबगान, इक्के-दुक्के बँगले, लम्बी पतली सडक सब पर चाँदनी व्याप्त थी। खभो की रोशनी मे ताँगे तथा घोडे की आगे-पीछे आती-जाती छायाएँ ही व्यग्र दौडती लग रही थी अन्यथा शेष सब प्रशस्त, निश्चन्त था। अपने-अपने एकान्त, हाहाकार का बोध केवल अपने को छोड किसी दूसरे को उसको न तो आहट हो थी और न आभास। दोनों को, दोनो का हाहाकार अवश्य सुनायी भी पड रहा था तभी तो विपरीत दिशाओ मे देखते हुए वे घर पहुँचने की प्रतीक्षा में थे, जब कि शहर शुरू हो चुका था।

पूरी तरह भोगा गया हर दुःख एवं सुख अपनी सम्पूर्ण विविधता में भोक्ता के निकट वह चिर संचित रहता है। विवेक चाहे तो अपने विगत को उतने ही अधिकार भाव से फैलाकर देख सकता है, चिन्हित कर सकता है जैसे वह कोई महत्त्वपूर्ण फौजी नक्शा हो और उसे अपने सामने फैला कर झडी वाला पिनो से अंकित करते हुए बता सकता है कि इस दिन, इस क्षण उसने यहाँ चाय पी थी। इस दिन वे लोग सब डक-हैटिंग के लिए गये थे। फलाँ दिन आनन्द के साथ सीमा को किस चौकी तक दोनो गये थे या अकेले वानीरा गयी थी। यदि विवेक को वह दिन भी याद हो कि कैसे आनन्द डिब्रूगढ़ से रवाना हुआ था तो क्या आश्चर्य है?

संभवत· सवेरे तीन बजे एक विशेष फौजी विमान द्वारा सहयात्री रूप में अन्य दो-चार अफसरों के साथ मेजर आनन्द को भी जाना था। दिसबर का जाड़ा था, उस पर आधी रात तक काफी वर्षा हुई थी। आधी रात के बाद वर्षा अवश्य थम गयी थी पर आकाश मेघा-च्छन्न ही रहा। आशा यही थी कि वर्षा के कारण जाना टल जाएगा इसलिए लगभग रात भर आनन्द के फोन की प्रतीक्षा करते हुए ही वे

लोग सोते रहे। जब क्लाइड कार लेकर पहुँचा तब लगा कि आनन्द का जाना टला नही।

जिस समय ये लोग छोटे से एरोड्रम पर पहुँचे मिलिट्री की खासी भीड थी। सिविलियनो के नाम पर यही तीन व्यक्ति थे। वैसे कुछ अफसरो की पत्नियाँ भी अवश्य थी। यहाँ से प्रमुख रूप मे जाने वालों मे आनन्द ही था। उस छोटे से लाउज मे शराब और तम्बाकू की गंध स्पष्ट थी। आनन्द को यहाँ से चले जाते देख विवेक को थोड़ा बुरा अवश्य लगा। क्लाइड के चेहरे पर अवसरोचित प्रसन्नता, गभीरता, भावुकता सभी कुछ थी जो सब औपचारिक होती है। वानीरा अवश्य भावुक से अधिक गभीर थी। वह भावुक क्यो नही थी इसी बात का विवेक को आश्चर्य था। शायद वह अपनी भावुकता को छुपाने के लिए चेस्टर मे हाथ डाले दीवारों पर लगे रगीन विज्ञापनों, स्थानों के चित्रो तथा विभिन्न प्रकार के विमानो की छवियो को देखने के लिए कभी-कभी दूर हो जाती। आनन्द की व्यस्तता सहज थी। बीच-बीच मे उसका मुस्करा कर इन लोगों की ओर देख लेना भी उचित ही था। विवेक और क्लाइड स्पष्टतः बोर हो रहे थे इसलिए 'स्नेक बार' मै चलकर चाय पीने का क्लाइड का प्रस्ताव बड़ा समयोचित लगा। लेकिन वानीरा को वैसे भी चाय कोई विशेष प्रिय नहीं रही है इसलिए उसे चित्रों, छवियों को उपयुक्त रूप से देखने के लिए छोड़ कर वे दोनो बार की ओर निकल आये। अभी विमान के जाने में पन्द्रह मिनट से अधिक था।...लाउडस्पीकर पर बारबार विमान के बारे में घोषणा की जा रही थी। और जब लगभग छूटने की बात कही जा रही थी उस समय तेजी से ये लोग फेंसिग की ओर बढ़े। खुले मैदान में पहुँच कर हवा का जो तेज सपाटा लगा उसके कारण रोम-रोम काँप उठा। गर्दन तक कालर उठा रेलिंगों से सटी छोटी-सी भीड़ में वे लोग आनन्द को खोजने लगे। सामने अँधेरे की पृष्ठभूमि में विमान स्पष्ट दिखायी दे रहा था। छोटी-सी भीड़ का लगभग बड़ा सा शोर हँसियों तथा बातों में उभरा हुआ था। विवेक ने देखा कि

रेलिंग के बाहर एक तरफ आनन्द और वानीरा बाते कर रहे है। और जिस समय मित्रवत हाथ मिला कर वह विमान की ओर बढा, यात्रियों मे आनन्द ही सबसे पीछे था। उस अंधेरे मे पहचान पाने की कठिनाई दोनों ही ओर से थी।...लेकिन विमान से कब सीढी हटी, कब दरवाजा बद हुआ और कब पखो के नीचे वाली दो विशाल लाइटे जली, पंखे भरभराये, लाइटे घूमी, और पखो से निकली हवा का तेज झोका कब सबको कँपाता हुआ निकला तथा उसके बाद विमान लाइटों वाले अपने 'रन-वे' पर दौड़ा आदि बाते सब बहुत स्पष्ट थी। और जब दूर चला गया विमान वापस लौट कर सिर के ऊपर से गुजरा तो वातावरण में एक तेज गुन्नाहट के फिर कुछ नही रहा। इसके बाद सब लोग उस अँधेरे खुले वातावरण मे सहसा कैसे निरीह लगने लगे थे। वैसे तेज हवा सब की आँखो में लगी थी। नाक पर भी उसका प्रभाव हुआ था। पर जिस ढग से वानीरा ने अपनी नाक-आँख पोछी थी उससे कोई भी यह समझ सकता था कि मात्र ठण्ढी हवा ही कारण न थी। लौटते मे तीनो चुप ही बने रहे। बोलने के लिए, खासकर आनन्द के बारे में, उनके पास था ही क्या ? तीन दिन पूर्व आनन्द के सम्मान मे वानीरा ने एक भोज देकर सभी से आनन्द के बारे मे इतना बुलवा लिया था कि अब मौन ही सबसे बड़ी अभिव्यक्ति था। शायद तीनो इस समय बोलना टालते बैठे रहे। अब जब आनन्द पूरी तरह चला जा चुका तो विवेक को लगा कि किसी के चले जाने के बाद ही स्मृतियाँ मुखर होती हैं, सामने नही। सामने तो स्मरण भर होता है और स्मरण एवं स्मृति मे अन्तर तो होता ही है। विवेक को लेकिन एक बात यह खल रही थी कि जिस आनन्द को वह इतना गंभीर, संयमी मानता रहा वह भोज के दिन अपरान्ह में कैसा बचकाना व्यवहार करता रहा — ढेर सारे फोटोग्राफ विभिन्न मुद्राओं मे लिये गये, जाने कौन-कौन से ग्रामाफोन के रेकार्ड बजाये, ताश खेली गयी और तो और तितलियों के पीछे तक भागा गया। लेकिन, क्या यह सब उसका सायास था ? विवेक का जब ध्यान टूटा, तो उसने देखा

कि गद्दी पर सिर टिकाये आँखें मूँदे वानीरा अपने में लीन है तथा क्लाइड...क्लाइड मोटर चलाने में तल्लीन था।

इसके बाद घटनाएँ जैसे मर गयी हों। एक अजीब उदासी में भीगा, डूबा पूरा एक वर्ष मौन में ही जैसे बीता हो। यद्यपि विवेक के लिए कही कुछ नही बदला था पर वानीरा तो ऐसी हो गयी जैसे किसी बडे हाल की एक मात्र खुली खिड़की सहसा बंद हो जाए और भीतर छूट गया प्रकाश क्रमशः अँधेरा बनता ही चला जाए और एक दिन बस, केवल अँधेरा ही अँधेरा शेष रह जाए। वानीरा भी लगभग यही होती चली गयी। वैसे विवेक ने प्रत्येक दिन इस बात की प्रतीक्षा की कि वानीरा यहाँ से चलने का प्रस्ताव रखेगी। पर दिन, सप्ताह तथा महीने गुजरते चले गये और वह कुछ नही बोली। जब वानीरा उदास हो गयी तो घर की, घर की चीजो की, संबंधों की और तो और चाय के प्यालों तक की चमक चली गयी। वानीरा को देख कर कोई भी कह सकता था कि वह एक अनरियाजी, अनकसी सितार है जो अपने सारे स्वर, राग खो चुकी है। अजीब बासी-बासी सा व्यवहार, कुम्ह-लायी-आँखें, उनीदा विलोकना ऐसा उसमें समा गया था कि उससे कुछ भी पूछना, उसकी ओर देखना तक उसे दुःख देना लगता। घर लग-भग एक उदास जूठे बर्तन सा हो गया। घर वही था, चीजें वही थी। लताएँ, फूल और तो और हवाएँ तक वही थीं पर व्यक्ति बदल गये थे। कोयला कैसे क्रमशः बुझता है कि स्वय उसके बुझ जाने पर भी आवरण की राख काफी देर तक गरम रहती है। और जब तक कोई तेज हवा आकर उसे नही हिला जाती तब तक पता ही नही चलता कि वह जल रहा है या बुझ चुका है बल्कि आग का आभास देता है। घर पुरुष के कारण सप्राण नही होता, वह तो नारी ही होती है कि जिसके चारों ओर घर, घर की माया, चीजों की चमक, गृहस्थी का

स्वर मँडराता होता है। जब वही वितृष्ण हो जाए तो उस स्थिति में पुरुष ऐमा ही दयनीय हो जाता है जैसा कि जलप्लावन मे मनु हो गया था। क्योकि मन बँटने के साथ-साथ पति-पत्नी के कमरे, चीजे, आवश्यकताएँ सभी बँट जाती है। वानीरा-विवेक कहने को खाने की टेबल पर नित्य मिलते पर दोनो को ही लगता कि जैसे अपराध किया जा रहा है। घर तथा डिस्पेन्सरी की स्थिति छह-आठ महीने में पुरी की जैसी ही हो गयी। वानीरा ने अपने को यदा-कदा क्लाइड के के यहाँ जाने के अतिरिक्त सारी सामाजिकता से काट लिया। विवेक सब समझ रहा था कि यह अपरिग्रहता क्यो है। वानीरा उसे अपने मौन से बाध्य करना चाह रही थी कि विवेक इसका कारण पूछे और तब जो वह निदान बताये उसे विवेक स्वीकारे भी। तभी तो पूरी पूजा बीत गयी और एक दिन को भी वह कालीबाडी नही गयी बल्कि अपने बासीपन मे ऐसी बनी रही जैसे पूजा के दिनो को उसे कोई चेतना ही नही है। हवा मे माइक्रोफोन के कारण पूजा-गीत दिन-रात सुनायी पड़ते पर वानीरा अनासक्त बनी कुज मे लान-कुर्सी पर बैठी सलाइयो से जाने कितना बुनने में खोयी रहती। प्राय: मिलने वालो को कालीपद से कहलवा दिया गया कि अस्वस्थता के कारण मिलना न हो सकेगा। और जब दिवाली भी अनजली बीत गयी तथा वानीरा के न तो आचरण और न हावभाव किसी मे भी कोई अकुलाहट या व्यग्रता विवेक को न दिखी तब विवेक का आत्म-संयम टूट गया,

— आखिर तुम क्या चाहती हो ?

विवेक की बात पर बुनना छोड़ वानीरा ने क्षण भर को किस आहत भाव से देखा कि जैसे जाने कितना और कैसा अवांछित बोला गया हो। क्षणिक लम्बे मौन के बाद वह बुनते हुए बोली,

— यह तुमने कैसे सोचा कि मै कुछ चाहती भी हूँ ?

— तब यह मान लिया जाए कि हम लोग अब घर में नही किसी मठ मे रहते है ?

विवेक की बात पर वानीरा मुस्कराती रही पर देखा तक नही।

विवेक के लिए आगे बात करना कठिन था इसलिए वह उठ ही रहा था कि वानीरा तद्वत मुद्रा से ही बोली,

— विवेक ! क्या यह संभव है कि हम लोग एक बार फिर से किसी नयी जगह चल कर नवारंभ कर सकें ?

और एक दिन, अर्थात, कल शाम, अब तो सूर्योदय हो रहा है इसलिए कहना चाहिए कि परसों शाम डिब्रूगढ़ छोड़कर विवेक-वानीरा इलाहाबाद के लिए रवाना हुए।

सिलोगुडी स्टेशन आ चुका था। खिडकी का पल्ला उठाकर विवेक ने न केवल कमरे को ही बल्कि अपनी नितान्तता को भी बाहरी बहुलना को सौप दिया। कम्मार्टमेट में भी दिन शुरू हो गया था। वानीरा स्टेशन पर उतरने के लिए तथा रिफ्रेशमेट-रूम तक जा सकने के लिए अपने को तैयार कर सकी थी। कम्पार्टमेंट से बाहर आते हुए वह जिस ढंग से एव तुष्ट भाव से अपने लिए ही मुस्करा रहो थी — उसमें आक्षेपात्मक कुछ नही था पर विवेक को लगा कि सारी रात जागते हुए वह विगत को कितनी अकुलाहट से पुकारता रहा है जब कि सारो रात वानीरा ऐसे ही मुस्कराती रही है, विगत में भी तथा वर्तमान में भी।

और दो वर्ष उपरान्त —

आज जब विवेक और वानीरा पुनः यात्रा पर निकले तो कैसा अन्यमनस्की विषम था कि इस बार स्टेशन पर न तो कोई परिचित मुख ही था और न अकुलाये हाथ मे बिदा देता, हिलता एक भी रूमाल। ऐसी तिरस्कृत निर्जनता जनवरी की इस अँधेरी रात्रि मे व्याप्त थी कि जिसका बोझ न केवल मन पर ही वरन अंगों तक पर अनुभव हो रहा था। सूने प्लेटफार्म के पार फैले अँधेरे मे कैसे अविश्वसनीय ढग से दो-चार लाल-हरी लाइटें उसे प्रगाढ़ करती यहाँ-वहाँ छितरी हुई थी। ठण्डी हवा के तेज सपाटे मन को विमन किये दे रहे थे। कैसे अपराध भाव की यह बिदा थी। क्या कोई कही से इस तरह बिदा होता है ? क्या वे डिबूगढ़ से इस तरह बिदा हुए थे ? क्लाइड का आकुल आचार क्या किसी दिन विस्मरणीय हो सकेगा ?

दो वर्ष पूर्व जब वे यहाँ इलाहाबाद आये थे, भले ही वह आना अनायास ही था पर तब मेजर आनन्द का आमंत्रण था। विवेक के लिए चाहे वह अप्रीतिकर ही रहा हो पर था तो — लेकिन आज कैसे कटी पतंगवत वे दोनों चले जा रहे थे। विवेक जानता है कि वानीरा चल नही रही है वरन विवेक उसे वैसे ही, भले ही कंधे पर न सही, लिये जा रहा है जैसे वह माँ दुर्गा की प्रतिमा हो और उसे विसर्जन के हेतु लिये जा रहा है। गत सात दिनों से यही प्रतिमात्व

बानीरा में आ बैठा है। विवेक अब यही सोचता है कि वानीरा पुनः कभी मानुषी न हो सकेगी। जो हो, विवेक पुरी लौट जाने के प्रति किंचित उत्साही भले ही हो पर सदा की भाँति अनासक्त ही कहा जाएगा। क्योंकि वह जानता है कि 'निर्जन सिकता' पहुँच जाने पर भी, जो कुछ हो चुका है उसे अनहुआ नही किया जा सकेगा, कारण कि चाहे लगता हो कि हमारा मन बालू का है पर होता वह वास्तव में चट्टान ही है। एक बार अंकित हो जाने पर उसे विकृत भले ही कर दिया जाए लेकिन वह सदा-सदा के लिए किसी न किसी रूप में हमें सालने के लिए विद्यमान ही रहता है। व्यक्ति भूल सकता है, विस्मृत नही कर सकता। — जब कि वानीरा जानती है कि उसे 'निर्जन सिकता' में जाकर अब शेष पर्यन्त वैसे ही रहना है जैसे कि पुरातत्वी लोग किसी ऐतिहासिक प्रतिमा को संग्रहालय में ले जाकर प्रस्थापित कर देते है। किसी न किसी कारणवश, एक अवधि के बाद प्रत्येक घर सग्रहालय जैसा ही हो जाता है। वानीरा गत सात दिनों से अपने से जूझ रही है पर अपने भीतर ही बड़ी क्रियाहीनता लगती है। वह उस बंद घड़ी की तरह हो गयी है जिसकी चाभी आनन्द इलाहाबाद से जाते समय अपने साथ ले गया है और वह घड़ी ठीक उसके जाने के समय ही बंद हो गयी थी। सारे घड़ीत्व के होते हुए भी जब यदि वह विवेक को अनिवार्य बोझ लगती है तो वह विवेक से कहना चाहती रही है कि विवेक इस अनिवार्य को काट फेको, लेकिन यह या वह कुछ भी तो कहने को मन नही करता। ठीक है, उसने हठात चोट को वैसे ही सहा है जैसे कि शीशे पर जोर का प्रहार हुआ हो और शीशा चूर-चूर हो उठने पर भी टूट न गिरा हो, बस, वैसा ही टूटापन अपने अन्तर में लिए वह संयुक्त दिख भर रही है, है नही। उसने तो कभी विवेक पर यह नही व्यक्त किया होगा कि चूँकि वह अमूल्य दर्पण है इसलिए टूटा होने पर भी विशिष्ट है, अतएव वह भार वहन करे। यदि विवेक ने स्वतः ही पुरी लौट जाने का निर्णय इसलिए लिया हो कि यह टूटा-पन स्पष्ट टूट कर छितर न उठे तो वानीरा के पास भी केवल स्वीकार

के और कोई उत्तर था भी नही तथा हो भी नही सकता था। अब तो वह बस, है भर। चाहे वह होना इलाहाबाद मे हो यह पुरी में, विवेक चाहता है कि वानीरा का यह होना पुरी मे हो इसलिए वह पुरी में होने के लिए जा रही है।

गाडी मे जब कुली उन्हे बिठाल कर चल दिया तो वे दोनों अपने 'कूपे' मे निरीह हो उठे। जब तक प्लेटफार्म पर थे तब तक सारी बातो के बाद भी ऐसी निरीहता नही लग रही थी। साथ थे, पर साथ होने का बोध नही था, जब कि अब तो साथ होने की स्थिति एवं बोध दोनो ने ही इतना समीप ला खड़ा किया कि घुटन लगने लगी। शायद इसलिए अपनी-अपनी खिड़कियों से दोनों मौन उदास हो बड़ी देर तक प्लेटफार्म का छूटना देखते रहे। छूटते हुए प्लेटफार्म के सिरे पर कोई कुली खड़ा था, जिसकी लाल वर्दी लाइट मे खिल आयी थी, हठात वानीरा को उस अपरिचित व्यक्ति से वैसी ही आत्मीयता अनुभव हुई जैसे कि वह उसकी देह से निथरा जल हो। बडी अकुलाहट अपने भीतर लगी और अज्ञात मे, स्वयं से ही छुपाते हुए बड़े ही स्वल्प रूप मे विदा मे हाथ हिला दिया।

स्टेशन के तुरन्त बाद जो अँधेरा आया उसमे दोनों को ही लगा कि दोनों ही यदि खिड़की से ऐसे देखते रहे तो दोनो को ही बड़ी असुविधा होगी इसलिए वानीरा अनबोले चुपचाप ही लिहाफ को कंधे तक सरका, मुँह फेर करवट ले लेट गयी। जमुना-ब्रिज तक विवेक के लिए देखने को बहुत कुछ था — सोते हुए शहर को उनीदी सडकें, खिन्न मना बत्तियों की झालरे, पहियो की आवाज दुहराते मकान — और जब जमुना के काले जल मे आकाश की भीगी प्रतिच्छाया भी बीत गयी तब उसने शीशे वाला पल्ला गिरा लिया। उसे अब एक ही बात कचोटने लगी कि क्या पत्नी के होते हुए भी सारे पति ऐसे ही नितान्त होते है? क्या वानीरा यह नही सोचती है कि कोई भी पति अपनी पत्नी के इन आचरणों को कभी भी नही सहन करता है? जब कि विवेक ने गत आठ वर्षो तक न केवल सहन ही किया है पर वह आकण्ठ

दग्ध हो चुका है, फिर भी वानीरा की यह अवमानना, उसका यह राग किस लिए ?

वानीरा ने संभवत· कभी भी विवेक को नहीं बूझा। यदि वह चाहती तो बूझ सकती थी। प्रश्न यह नही था कि उसने क्यों नही चाहा, बल्कि उसे चाहना चाहिए था, यह बात डिब्रूगढ छोडते समय वैसी नहीं साले थी जैसी कि आज इस इलाहाबाद को छोड़ते समय टूटे काँटे सी बहुत भीतर खुभी पड रही थी।

इलाहाबाद... ..!!

एक एक दिन कैसी-कैसी बाते...राग, विराग, उपेक्षा, अवमानना, दर्प भरा अनेको-अनेको मुद्राएँ अपने सारे सन्दर्भो के साथ विवेक के अतस्तल मे वैसी ही सुरक्षित है जैसे कि गुहाचित्र। हर छेनी का प्रहार शिला इसीलिए न सहती है कि उसमें कुछ उत्कीर्णित किया जा रहा है ? बस वैसे ही विवेक ने शिलावत रह कर अपने को टूट-टूट जाने दिया है।

दो वर्ष पूर्व जिस दिन, जिस क्षण इलाहाबाद के स्टेशन पर गाडी पहुँच रही थी तब की वानीरा को व्यग्रता को क्या वह किसी दिन भी बिसरा सकेगा ? ..सवेरे के नीले आलोकित कुहरे मे कितनी उत्सुकता के साथ वानीरा खिडकी मे, लगभग उझकते हुए निकट होते प्लेटफार्म पर किसी को कैसे जल्दी-जल्दी खोजने लगी थी। किसी दिन भी अपनी इस व्यग्रता को वानोरा 'अतिरिक्त नही' कह सकेगी ? प्लेटफार्म पर खड़ी भीड मे खोजती हुई हमारी आँखे कितनी सतर्क, व्यग्र एव मशीन-वत होती है कि व्यर्थ के लोगों को तेजी से छाँटती चली जाती है।

मेजर आनन्द भी अपनी ऊनी फौजी भूषा में विशिष्ट बना खड़ा था। कई व्यक्तियों को देख कर लगता है कि वे अपनी टाँगों पर नहीं बल्कि अपने आत्मविश्वास पर खडे है। मेजर आनन्द भी कम से कम उस समय अपनी टाँगों पर नही खडा था, यह बात उसके पीछे खडे उसके फौजी अर्दली के कारण अधिक स्पष्ट थी। जिस ढग से वानीरा के बढे हाथ को सहारा देकर मेजर आनन्द ने स्वागत करते उतारा उसमें साधिकार निश्चिन्तता थी। वानीरा-विवेक की यह कृपा है, का भाव तो लेशमात्र भी नही था। इसका कारण यह था कि व्यक्ति जब जानता है कि ऐसा होगा ही तब साधिकारता तो होगी ही। ..शायद उस दिन रविवार था। हाँ, रविवार ही तो था तभी तो पानी वाली टंकी के पास वाले कैथोलिक चर्च की ओर ढेरो ईसाई जा रहे थे। एम० टी० लाइन्स के विस्तृत मैदानो मे परेड और पी०टी० हो रही थी। फौजी चर्च के पास के बाँये मोड़ पर जो गैरीसन-स्ट्रीट है, उसके सिरे पर मेजर आनन्द का बँगला था। विवेक को ठीक से याद है कि जिस समय वे लोग जीप से उतरे तो उसे लगा कि डिब्रूगढ़ से यहाँ तक की यात्रा जैसे बाणभट्ट का एक बड़ा सा वाक्य था और वह अब समाप्त हुआ हो।

दो-चार दिन के बाद से ही समस्या थी कि आगे क्या हो? लेकिन विवेक को लगा कि यह समस्या वानीरा के निकट कहीं नहीं है। डिब्रूगढ़ और इलाहाबाद में यह अन्तर हो गया था कि वहाँ वानीरा का आग्रह था कि जल्द से जल्द अपने को क्लाइड से पृथक कर जमा जाए पर यहाँ या इस बार किसी भी प्रकार का आग्रह ही क्या व्यग्रता तक नही थी। पूर्व ओर के बरामदे में सबेरे की ऊनी-ऊनी धूप में सद्यस्नात हो, केश फैलाये जिस निश्चिन्तता से चाय पी जाती उसमें कभी भी यह नही लगता कि वानीरा यह चाहती है कि विवेक घर खोजे और कारोबार जमाने की भी चिन्ता करे। वह तो यहाँ पहुँच कर ऐसी हो गयी थी जैसे यही पहुँचने को वह चली थी। कई बार चाय पीते समय या दोपहर में लंच के समय आनन्द नहीं भी हुआ करता था पर वानीरा

का आचार ऐसा नही था कि जैसे वह इस घर की नही हो। ऐसी विषम परिस्थितियो मे जब कि मात्र वे दोनो ही होते या रह जाते तो कभी चाय मे चीनी मिलाते हुए या कोई तरकारी बढ़ाते हुए ऐसा ही कुछ या तो कह लिया जाता या बता दिया जाता, लेकिन पूछा कभी नही जाता,

— विवेक आनन्द बता रहे थे कि पास ही यहाँ 'मैकफर्सन लेक' है। इन दिनो सबेरे-सबेरे काफी अच्छा मौसम होता है डक-हंटिक के लिए। कल सबेरे चल सकोग न ?

विवेक केवल देख सकता था इस तरह की बाते सुनकर, जो उसने किया भी। बडी देर से दोनों मौन भाव से लंच ले रहे थे। वानीरा ने अपनी ओर से इसे तोड़ने के लिए ही यह चर्चा चलायी थी। इसे विवेक को समझते देर न लगी, पर विवेक क्या उत्तर दे ?

आधे बरामदे मे धूप सीधी खिंची हुई थी। लान के सिरे पर की झाड़ियो और लताओ मे तितलियाँ रग छिटकाती उड़ी फिर रही थी। धूप हल्की भीगी मलमल सी लग रही थी। सिरके की गंध वाली मूली का टुकडा चबाते हुए वह सोच रहा था कि वानीरा इसके अतिरिक्त और कुछ बात क्यो नही करती ? वह बोला,

— अच्छा !!

तभी खानसामा ने वानीरा से और फुलको के लिए पूछा। 'अच्छा' कह कर विवेक उठ गया था।

मेजर आनन्द तो शिकार की पूरी तैयारी के साथ-साथ लैण्डस्केप पेन्टिग करने की भी तैयारी से आया था। वानीरा के पास भी बुनाई का इतना कार्य था कि वह कई जन्मो तक मैक्फर्सन-लेक पर निश्चिन्त बैठे रह कर बुन सकती थी। ऐसे में विवेक को बडा अजीब सा लगा कि वह केवल स्वतः बना मौजूद था। वह चाहता तो कोई काव्य को

या हल्के-फुल्के पढने के लिए कुछ भी ले जा सकता था पर इस प्रकार तैयारी के साथ कही घूमने जाना बड़ा सायास लगता है और जिससे उसे चिढ है। स्वय मेजर आनन्द का वह शिकारी रूप अपने आप में काफी हास्यास्पद लग रहा था जिसे बराबर बुनते रह कर वानीरा ने और भी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। जिस समय ये लोग लेक पर पहुँचे पश्चिमी सिरे के टीले पर बसे पुरवे के मकानो पर प्रातः कालीन आकाश का कोमल नीलापन समाप्त हो रहा था। जल मुर्गा-बियाँ परली पार के शान्त तट पर उन्मुक्त तैर रही थी। छोटे से बाँध के पास पानी, गिरते हुए शब्द कर रहा था अन्यथा धूप एव खुलापन होते हुए भी काफी एकान्त लग रहा था। आकाश की नीलो छाया एव झील के हरे जल की आभा से संयुक्त जो रग तिर उठ रहा था वही सबसे सुन्दर था। आनन्द ने बड़ी तौलिया बिछाकर दरी बना दी थी जिस पर निश्चिन्त हो वानीरा बैठ कर बुनायी करने लग गयी। पास ही एक छोटे से टीले पर रंग और ब्रश लेकर आनन्द ने लैंडस्केप बनाना शुरू कर दिया था। केवल विवेक के सामने ही प्रश्न था कि वह क्या करे ? और उसे यही सूझा कि सबसे पहले तो इस झील का एक चक्कर ही लगाया जाए ताकि वह कुछ क्षण को ही सही, पर अपने को, वानीरा को तथा आसपास को भूल सके। और उस छोटी सी झील के पठारी कगारो में पहाड़ीपन अनुभव करते हुए ऊँचे-नीचे चढते जब वह बिल्कुल दूसरी तरफ पहुँचा, जहाँ से सामने की तरफ बैठे हुए आनन्द और वानीरा दिखलायी दिये तो उसे यह दूरी बड़ी अच्छी लगी। वानीरा उसे सबधहीन एक नारी मात्र लगी जिसकी सफेद साडी तथा सफेद शाल बिलकुल सगमरमर का आभास देने लगी। यहाँ से वानीरा का बैठना कितना सुहाना लग रहा था कि कोई सुन्दर स्त्री ही ऐसे सायास गरिमा भार से अपने को बैठा सकती है। उसके बालों में धूप की चमक, खोसे हुए पर सी लग रही थी। उसके पाँवों के पास साड़ी कैसी फैली हुई तेजी से समाप्त हो रही थी। उसके हाथ बुनने से अधिक लिखते से लग रहे

थे। पास ही चित्र बनाता आनन्द, चित्रकार से अधिक पैमाइश का कारकून सा लगा रहा था। उसकी कुहनियो तक खुली बाँहो का कसरतीपन कितना स्पष्ट था। उसके मुँह पर पी-केप के कारण छाया पड़ रही थी, जिससे वह — क्रिकेट के विकेट-कीपर की तरह लग रहा था। विवेक जहाँ खडा था वहाँ से एक पगडडी ऊपर चढ़ती हुई पुरवे के लिए चली गयी थी और वह परिक्रमा को अधूरे छोड पगडडी चढने लगा। जब वह पुरवे के मकानों तक पहुँचा तो उसने पाया कि वह यहाँ की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच गया है। चारो ओर का दृश्य अपेक्षाकृत नीचे उतरा लग रहा था। पहले उसने जिस स्थान से वानीरा-आनन्द को देखा था वहाँ से वे दोनो ऊपर थे पर इस बार वह बहुत दूर के पीछे के भी पार्श्व मे उन्हे देख रहा था। उन दोनो के सिरो के पीछे, ऊपर की ओर नीले पठार के बाद अमराइयाँ, गगा की भूरी कछार तथा सुदूर मे दिखते इक्के-दुक्के फौजी बगले खड़े थे। गगा की ओर छोटे पठारो का एक टूटा-टूटा सा सिलसिला चला गया था जिसमे से झाँकती गगा की श्वेत धारा, बालू का गोरा विस्तार उझका पड़ रहा था।

पुरवे मे पहुँच विवेक को बहुत खुशी हुई जब उसने तीन गन्ने खरीदे। और जब वह गन्नो को लेकर वानीरा-आनन्द के पास पहुँचा तब तक आनन्द अपना लैडस्केप पूरा कर चुका था और वानीरा उस छवि को प्रशसा भाव से देख रही थी। गन्ने खाने के बाद आनन्द को डक-हटिंग की बात याद आयी। बन्दूक और गोलियो का झोला उठाते हुए वह बोला,

— डाक्टर ! नाउ आई एम आफ।

और जिस ढग से उसने यह कहा उस पर सभी को हंसी आ गयी क्यों कि वह झोला टाँग कर स्कूली बच्चों की तरह हास्यास्पद लग रहा था।

— तो परिव्राजक जी को पृथ्वी की प्रदक्षिणा मे कितने युग लगेगे ? कहते हुए वानीरा हँस पडी। हँसते हुए वह सलाइयो मे अपना बुनना समेट रही थी। सभवतः वह भी उठने की चेष्टा कर रही थी।

— आकाशचारियों का पीछा करने वाले पृथ्वीचारी का जो हाल होता है वही मेरा भी होगा ।

और विवेक ने देखा कि आनन्द गंगा के ऊपर के आकाश मे देख रहा था । पहली बार विवेक का ध्यान गया कि सचमुच पक्षियों का एक झुण्ड बड़े नीचे-नीचे उड रहा था । इस बीच वानीरा को भी चलने के लिए उद्यत देख विवेक समझ नही पाया कि वह यहाँ क्यो है ? तथा यह भी कि यहाँ होने पर उसे अब क्या करना चाहिए ? यह तो स्पष्ट ही था कि वानीरा भी आनन्द के साथ जाने को उद्यत है, तो ? तभी आनन्द बोला,

— जब तक मैं दो-चार डके लाता हूँ आशा है आप लोग टहलते हुए इस टीले के पार जो गगा की कछार है वहाँ मिलेंगे ।

और आनन्द ने एक टीले की ओर सकेत किया जिसकी ओर विवेक का ध्यान नही गया बल्कि उसे अनायास अपने मन पर से एक बोझ हटता सा लगा । — जिस ढग से आनन्द झील की कगार चढता बन्दूक थामे चला जा रहा था उससे विवेक को उसकी विविधता के साथ ईर्षा ही हुई ।

विवेक को मेकफर्सन-लेक के दिन लगा था कि वह अवांछित है । क्योकि आनन्द के चले जाने के बाद कितनी खिन्न उदासी के साथ घूमते हुए वे दोनों उस टीले के पार वाली कछार पर पहुँचे थे जहाँ के लिए आनन्द बता गया था । गगा की विपुल शाति भी विवेक के भीतर चल रहे हाहाकार का समाधान नही कर पा रही थी, जबकि देखने पर वानीरा कितनी निश्चिन्त लग रही थी जैसे कुछ भी पूछे जाने पर वह ऐसे ही चौकेगी जैसे उसकी उसे कभी अपेक्षा न थी । कछार पर धूप खूब थी पर कगार में लचीलापन था, फलस्वरूप सिरे पर वे एकदम कच्ची हो गयी थीं । चारों ओर के विस्तार को विपुलता इतनी बड़ी थी कि

बड़ी से बडी चीज-नगण्य लग रही थी। परली पार सरसों का पीलापन फूट आया था अतएव गगा और आकाश के बीच सरसो की यह पीली लम्बी पट्टी, दृश्य के विराट को साधे हुए थी ताकि केवल दिव्य ही न लगे बल्कि विश्वसनीय सुन्दर भी लगे। दाहिने हाथ थोडो दूर पर द्रौपदी-घाट के मदिर और नौकाओं के चिन्ह स्पष्ट थे।

वानीरा नगे पैर थी। उसने जूते वाले हाथ से साडी आगे से ऊँची कर रखी थी। तथा स्पष्ट था कि कगार मे जो भीगापन है उसे वह पैरो की राह अनुभव नही बल्कि भोग रही है। वह दृश्य को उसी तरह देख रही थी, जैसे वह किसी प्राचोन काल की दुष्कर विशाल प्रतिमा को देख रही हो। वानीरा के सपूर्ण आचार मे कोई भाषा नही वरन भाव ही थे। अनेक दिन बाद जैसे वानीरा को देखा हो, की तरह विवेक को हठात लगा। जाने क्यो उसे लगा कि वह उससे बातें करे लेकिन उसे सकोच हो आया कि क्या पता वह इस समय ऐसा ही नही सोच रही हो, तो ?

— नदियाँ न होती तो मानव सभ्यता जाने कब तक जंगलों मे ही भटकती रहती।

विवेक की बात पर वानीरा प्रसन्न हुई। पर विवेक को लगा कि यह प्रसन्नता कितनी सामाजिक है। प्रायः सभाओ में अच्छे भाषणो को सुन कर हमारे चेहरों पर ऐसी ही प्रसन्नताएँ आ जाती हैं। इसमें वैयक्तिकता कहाँ है ? क्यों ऐसा हो जाता है कि ऐसे विपुल एकान्त में भी पति-पत्नी कभी-कभी ऐसी सामाजिक बातों के बाद भी सुखद सामाजिकता भी नही अनुभव कर पाते, लेकिन क्यों ? चिड़ियों की तरह छोटी सी प्रसन्नता जाहिर कर वह फिर असग हो आयी। शायद विवेक कोई कड़वी बात कहने ही जा रहा था कि मेजर आनन्द का पुकारना सुनायी दिया। वानीरा ने, यद्यपि पूरी सतर्कता बरती फिर भी डूबती नौका की तरह पुकार की ओर देखा।...इसलिए आज जब सबेरे-सबेरे तीनों चाय पी रहे थे तब मेजर आनन्द ने बताया कि उसे आज छुट्टी है इसलिए क्यों नहीं आज दिन भर नौका-यात्रा की जाए।

आनन्द की बात को यद्यपि वानीरा ने सुना ऐसे ही जैसे उसने यह प्रस्ताव पहली बार ही सुना है पर उससे यह भूल हो गयी कि किसी भी प्रकार का उत्साह या अनिच्छा कुछ नही प्रगट की।

— क्यो डाक्टर! आपका क्या विचार है?

— इस बारे मे?

— जी हाँ।

— आप और वानीरा हो आएँ।

बात अधूरी छोड कर वानीरा की दबी प्रतिक्रिया जानने के लिए विवेक ने हलका सा उसकी ओर देखा पर वह चित्र बनी जिस सौम्य भाव से कप के पतलेपन को अपने ओठो से दबाये हुए थी उसमे किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया की कोई सभावना नही थी। वह फिर बोला, क्योकि उसकी आधी बात का यही प्रभाव हुआ था कि आनन्द किंचित असुविधा अनुभव करने लगा था।

— बात यह है कि आज मुझे एक दूकान देखने सिविल लाइन्स जाना है।

— दूकान?

थोड़े खिंचे आश्चर्य के साथ आनन्द ने पूछा।

— डिस्पेन्सरी के लिए सुना है बड़ी अच्छी जगह है वो ऽऽ जो 'पत्रिका' आफिस के पास पेट्रोल पम्प है न उसी के पास है।

आगे बात चलाना आनन्द के लिए सभव नही था। वानीरा ने इसे भी अखबार की एक खबर की तरह सुना। विवेक को जितना उचित लगा उतना बता दिया। और तब चाय को समाप्त हो ही जाना था।

तीसरे प्रहर विवेक बहुत प्रसन्नता के साथ आनन्द के बँगले पर पहुँचा। कई दिनों के बाद उसे नसो का तनाव शात हुआ सा लगा। वह जल्द से जल्द पहुँच कर डिस्पेन्सरी मिल जाने की सूचना वानीरा को और आनन्द को दे देना चाहने लगा। कई बार व्यक्ति कैसे अनायास सहजता अनुभव करता है एकबारगी ही यह कि भूल करके उसके

कहो कोई किसी नाव को पुकार भी रहा था तब कैसा उदास कर जाने वाला भाव विवेक में उठा था। वह भी चाहने लगा कि इसी तरह 'आन ऽऽ न्द !!' या 'वानीऽऽरा' कह कर पुकारे लेकिन सोचना और पुकारना एक तो नही होता है न ? क्रमशः अँधेरा झरता रहा और उसे अनजाने ही ब्रह्मपुत्र की वह शाम याद हो आयी जब वह ऐसे ही एक नाव मे लेटा था और तब कैसे बाँध पर आनन्द और वानीरा आये थे और तब उसने कैसे चुपके से उन लोगो की बाते सुन ली थी। इस सन्दर्भ के याद आते ही वह दुखी हो गया। उसके अन्तर मे बारबार यह कौधने लगा कि कितना अच्छा होता कि क्लाइड से परिचय तक न होता, तब वे डिब्रूगढ न जाते और डिब्रूगढ न जाते तो मेजर आनन्द से परिचय न होता और तब न इलाहाबाद आते।..., कितना बदल गया है सब। वानीरा आज कितनी दूर हो गयी है, क्या पुरी मे ऐसी थी ?—क्या फिर कभी नैकट्य संभव है ? क्या एक बार हम जो कुछ हो चुके होते हैं उसे अनहुआ कर वापस वैसा ही हो सकते है ? — कितनी अकुलाहाट होती है वैसे ही पुनः हो जाने के लिए। लेकिन इसी अर्थ में आकाश और धरती में अन्तर होता है। आकाश में किसी भी चीज का प्रभाव नही शेष रहता जब कि धरती पर फुदकती चिड़िया के नन्हे पंजों का चिह्न भी स्पष्ट होता है। तभी तो संबंध, आकाश नही धरती होता है, क्योकि वह निर्वंशी नही प्रजापति होता है।...क्या, किसी भी दिन, किसी भी क्षण के लिए विवेक इसे भूल सकता है या अस्वीकार सकता है कि वानीरा का क्लाइड के साथ तथा क्लाइड से अधिक मेजर आनन्द के साथ जो संबंध है वह उसके अधिकारो पर आक्रमण नही है ? — और जमुना में किसी बड़ी मछली ने जोर की छलाँग भरी और ढेरों पानी को रौंधते हुए वापस विलीन हो गयी। विवेक को लगा कि जीवन ही कैसे विवशता भी बन जाता है यह इस मछली ने अभी जल के बाहर कूद कर वापस विलीन होकर बता दिया। — तब क्या कोई गति नही होती एक बार संबंध बन जाने के बाद ? क्यों ? लोग कहते है कि तलाक,

मुक्ति का दूसरा नाम है। माना कि तलाक से व्यक्ति का संबंध समाप्त हो जाता है लेकिन जो सबध था, जो कि स्मृति बन चुका है, उसे कैसे दूर किया जा सकता है ? जिन कारणो से तलाक देना पड़ा वे कारण कैसे नष्ट हो सकते है ? क्योकि दुःख अपने भीतर होता है। निमित्त दूर कर देने का मतलब अधिक से अधिक यही हो सकता है कि भविष्य में और अधिक परिताप न हो लेकिन जो परिताप हो चुका उसे कैसे विनष्ट किया जा सकता है ? शायद इस अर्थ मे तलाक का निदान वैसा ही ऊपरो है जैसे कि "सर्दी-खाँसो जुकाम बुखार के लिए एस्प्रो की दो टिकियाँ निगल जाइए और आराम पाइए" — काश बीमारियो का इलाज रेडियो-सीलोन के व्यापार विभाग के विज्ञापनो से हो जाता तो क्या बात थी। लेकिन विवेक को स्वयं आश्चर्य हुआ कि वह तलाक की बात कैसे सोच सका ? और क्यो ?

वह चौक कर उठ खड़ा हुआ। किले की पथरीली दीवार की विपुलता का बोझ अब उसे अनुभव हुआ। अँधेरा घिर चुका था। मौसम बहुत अच्छा था। फाल्गुनी हवा इतनी अच्छी चल रही थी कि उसमें जमुना पार की सरसों की गंध तक थी। दूर हनुमान मन्दिर को आरती का स्वर था। पतले अँधेरे वाली रात्रि का आरभ बडे ही उपयुक्त ढग से हो रहा था। तारों में पहली चमक थी। जाने क्यो विवेक को पहली बार बोध हुआ कि वह विगत सात-आठ वर्षो से वानीराहीन एकान्त के बोझ से दबा हुआ है तथा जिसका दबाव अब उसे अपनी आत्मा पर भी अनुभव होने लगा है। उसे लगा कि जैसे उसने बरसों से वानीरा को देखा ही नही है और वह बिना किसी ओर देखे बाँध की ओर बढने लगा।...लेकिन सिविल लाइन्स तक आते-आते उसके मन पर नये सिरे से दबाव होने लगा। लेकिन इस बार उसने विश्लेषण करने की कोई आवश्यकता नही समझी बल्कि उसने स्वीकार लिया कि मन पर दबाव का होना एक अनिवार्यता है। जिस समय वह 'बेम्बूलोज' के लान मे पहुँचा तो उसे वैसी ही परितृप्ति का अनुभव हुआ जैसे यह कोई तूफानी यात्रा के बाद अनायास किसी द्वीप पर,

जा लगा हो। हाल से मेन्डेलिन के बजाने की आवाज बड़ी ही मन्द-मन्द आ रही थी। मौसम या संगीत, पता नही किस कारण से लान की टेबलो मे अधिकाश खाली थी। वह जाकर ताड़ के नीचे वाली टेबल पर बैठ गया और बीच के फौवारे की भीनी फुहार को अपने भीतर अनुभव करता बैरे की प्रतीक्षा करने लगा। उसे यहाँ आने पर लगा कि वह बहुत भूखा है तथा वह किसी से बाते करना चाहता है। बैरे को आर्डर देकर उसे लगा कि वह एक दम रीत गया है। अभी बैरा चीजे ले आएगा और वह तब खाकर कितनी देर अकेले बैठ कर ब्लेक काफी पीता रहेगा? कितने दिनों बाद, बल्कि वर्षों बाद तो अपने सारे व्यक्तित्व से चाहा है कि कोई हो जिससे वह बातें कर सके और आज ही कोई न हुआ। वानीरा क्यो नही हुई उसकी? लेकिन क्या वानीरा उसकी नहीं है? क्या इसी तरह किसी का हुआ जाता है? तब फिर कैसे हुआ जाता है?...ताड़ की तिरस्करणी पत्तियों के बीच वृहस्पति का नक्षत्र उभका पड़ रहा था। संभवतः इस बीच मेन्डेलीन के बजाय कोई गीत हो रहा था। गीत के शब्द स्पष्ट नहीं थे पर राग की धुन कैसी बिल्लियों की तरह गुद्दीदार चलते हुए उस तक आ रही थी। हाल के भीतर की चहल-पहल पीली रोशनी के साथ दरवाजो से होती हुई दिख रही थी। बॉस की जाफरी की कँगूरेदार झालर खपरैल की नेवती से लटकी विवेक को जाने कहाँ का स्मरण करा रही थी। बगल की टेबल पर एक दम्पत्ति अपने एक शिशु के साथ आकर अभी-अभी बैठा था। दम्पत्ति बहुत आधुनिक तो नहीं पर उन्नीसवी शती का आधुनिक अवश्य लग रहा था। शिशु बिल्कुल सहेजे गमले की भाँति खुशनुमा लग रहा था। जाने क्यों विवेक के मन मे कामना हुई कि अपनी फैली हथेली पर वह किसी शिशु का नरम पत्तियो जैसी अँगुलियो वाला हाथ देखना चाहता है...और वह सहसा उठ खड़ा हुआ।

विवेक को वैसे आश्चर्य होना चाहिए था कि जब एक दिन सहसा उसने वानीरा को बताया कि वह मकान तय कर आया है और आज शाम को ही उन्हे 'शिफ्ट' करना है तो वानीरा ने न कोई आश्चर्य, न जिज्ञासा कुछ भी व्यक्त नही की; वरन विवेक की आशा के विपरीत शाम को जब डिसपेन्सरी से लौटकर विवेक आया तो बाहर जीप पर सारा सामान लदा हुआ था तथा वानीरा किसी लंबी यात्रा की तैयारीवत कपड़ों से लैस हो कोई पत्रिका पढ़ती विवेक को प्रतीक्षिता मिली। एक क्षण को उसे वानीरा का इस प्रकार दर्प-भरा आज्ञा मानना अजीब सा ही लगा। उसे आशा थी कि वह या आनन्द कुछ कहेंगे-सुनेगे पर ऐसा कुछ नही हुआ। मेजर आनन्द भी बाहर के फाटक तक वैसे ही छोड़ने आया जैसे भोज में आये किसी मित्र को औपचारिक विदा देने के लिए जाया जाता है। एक मात्र वानीरा का मौन ही कुछ अजीब सा था अन्यथा वह जिस सहज ढंग से अपने को सहेजे हुए थी उसमें वह वैसी ही तटस्थ थी जैसे कि बालों के बीच माँग होती है।

विवेक का ख्याल था कि पुरी जैसा नही तो डिब्रूगढ़ जैसा पारिवारिक जीवन, घर लेने के बाद स्वरूप ले लेगा। बहुत कुछ शंका-सम्भावनाएँ अपनी अनिश्चित स्थिति के कारण हुआ करती है। अतिरिक्त उसके वह पुरुष है उसे पहल करनी चाहिए इसलिए हेमिल्टन

रोड पर उसने एक बँगला किराये पर ले लिया। और जब वानीरा को अपनी इस सफलता के बारे में बताया तो वह मुस्करायी अवश्य पर उसे प्रसन्न होना नही कहा जा सकता था क्योकि ऐसे ही तो वह उस दिन भी मुस्करायी थी जब डिस्पेन्सरी की बात बतायी थी।
आरंभिक दो चार महीनो तक विवेक ने घर, घर की चीजो, खाने के बारे मे अतिरिक्त उत्साह दिखाया ताकि उसके उत्साह की गर्मी पाकर वानीरा की जडायी अनुभूति फिर अपने सहज रूप मे काम करने लगे —ड्राइग रूम मे ताजे फूलो का स्तवक माली ने क्यो नही रखा, इसकी वह शिकायत बेझिझक वानीरा से करता ताकि वानीरा माली को बुलाकर डाटे-फटकारे। प्राय. वानीरा या तो स्वल्प सा 'अच्छा' उत्तर दे देती या कभी कभी झल्ला कर माली को बुलाकर डाट देती या बेबात ही विवेक पर झल्ला पडती कि क्या अब वह यही सब करने के लिए रह गयी है ? या, भरी आँखे लिए उठ जाती। —कभी-कभी अनपेक्षित रूप से वह तीसरे प्रहर चाय के लिए आ जाता और जब उस समय भी वानीरा को सोता हुआ देखता तो या तो कभी झल्ला पडता या कभी उसके बालों पर हाथ फेरते हुए उसे जगाता होता। पर वानीरा ने कभी यह नही कहा होगा कि जिस व्यक्ति के बारे में जब यह तय नही है कि रोज ही निश्चित समय पर चाय पीने आएगा ही तब भला वह कैसे प्रसाधनयुत हो चाय की टेबल पर बैठी मिल सकती है ? कैसा अजीब लगता है कि अपने ही घर मे चाय के लिए पति की निरर्थक प्रतीक्षा करते हुए बठे है। क्या यही बात रात के खाने के बारे मे नही है ? क्या वह दिन भर इसी तरह निरर्थक प्रतीक्षाओ मे ही खटती चली जाए तो विवेक को प्रसन्नता होगी ? —विवेक नही देखना चाहता कि वानीरा मेजर आनन्द के साथ किसी पार्टी या डिनर मे आया-जाया करे, तो ठीक है, उसे भी अधिकार है कि वह शोभा की एक निर्जीव वस्तु की भाँति बनी रहे। विवेक को तब क्यो शिकायत होनी चाहिए कि वानीरा सजीव क्यो नहीं लगती ? वानीरा बुझ गयी है। टेबल पर खाना खाते समय सिवाय चम्मचो की

आवाजों तथा ढक्कनों के शब्द के अलावा पूरे बँगले में ऐसी शांति होती जैसे किसो प्रियजन की मृत्यु के बाद का पहला भोजन करने के लिए वे लोग बैठे हों। प्राय. बोल नही फूट पाता या फिर,

— मौसम अच्छा है न वानीरा ?

— हूँ ! !

और फिर चुप। पत्थर की सी इस हुँकारी के अलावा कही कोई शाब्दिक प्रतिक्रिया नही। विवेक को इस या ऐसी बाते चलाकर लगता कि उसने कोई अपराध कर डाला है।

— आज मेजर आनन्द 'पैलेस' के सामने जाते दिखे थे, पूछ रहे थे।

— कालीपद! हाथ धोने के लिए गरम पानी ले आओ।

और वानीरा कहते हुए उठ जाती। — और दो-चार महीनों के प्रयास के बाद विवेक को लगा कि सबध का शव प्रतिदिन भारी ही होता जा रहा है। संभव है जल्द ही इसमें से दुर्गंध भी आने लगे। लेकिन विवेक क्या करे ? भला ऐसी स्थिति मे कोई क्या करता है ? विवेक ने भी वही किया जो वानीरा चाहती थी कि सम्बन्धों का जो गँदला पानी हो गया है उसकी दुर्गन्ध ऊपर न उठे इसके लिए एक मात्र यही रास्ता है कि उस पानी की तह मे चुपचाप बैठ जाया जाए — गति और शब्दहीन समर्पण। जिस तरह वानीरा ने अपने को आसन्न डुबा रखा है यदि विवेक चाहता है कि वानीरा साथ रहे तो वह भी ऐसा ही करे। और इस तरह की स्थिति मे पति-पत्नी यदि समझदार हों तो यह कसा हुआ सम्बन्ध भी अपने सारे तनाव के बाद भी निभ सकता है यदि और अतिरिक्त तनाव उत्पन्न न होने दे। क्योकि एक सीमा तक तो तार को कसा जा सकता है पर उसके बाद हल्की सी छुअन भी टूटने का कारण बन सकती है। शायद इसी अर्थ में विवेक ने यह भी स्वीकार लिया था कि आये दिन मेजर आनन्द जो चला आता था अथवा वानीरा उसके साथ मन बहलाव के लिए चली जाती थी, ये बाते उस कसाव की अन्तिम पराकाष्ठा थी। इसलिए अनेक बार देर रात हो जाने पर भी वह वानीरा के लौटने को मुस्करा कर

ही स्वीकार लेता रहा है। लेकिन विवेक यह भूल गया कि स्वीकार करते जाने की भी एक सीमा होती है। भले ही स्वीकार और अस्वीकार मे केवल एक पतले 'अ' का ही अन्तर हो, पर है तो।

वह अपनी डिस्पेन्सरी में बैठा हुआ था कि तभी मेजर आनन्द की जीप रुकी। चिक के पार से विवेक ने देखा कि जीप में वानीरा भी बैठी है। उसने उन लोगों के आने की प्रतीक्षा की लेकिन केवल मेजर आनन्द ही आया।

— डाक्टर ! हम लोग विन्ध्याचल और चुनार जा रहे हैं, — क्या आप चलेंगे ?

सहसा एक कार्यक्रम अपनी सम्पूर्णता के साथ उसके सामने अपनी सूचना देता खड़ा था। तथा यह भी कि वह उस कार्यक्रम में कही नही है तथा 'क्या आप चलेंगे ?' की भी यही व्यजना थी कि उसे उसमे नहीं होना है। इसके अलावा, वानीरा अपनी जगह बैठे रह कर विवेक की सामाजिक स्थिति को कितना विषम किये दे रही थी इसे वह अच्छी तरह जानता है। शायद यही दिन थे जब डिब्रूगढ़ मे भी 'रिजर्व फारेस्ट' का कार्यक्रम बना था और वह तब भी न जा सका था पर तब उसका न होना अनायास था जब कि आज उसके न होने को सायास किया जा रहा था। वह इन दोनों कार्यक्रमों मे समानता खोजने लगा, लेकिन कौन सी समानता ? वहाँ जो हुआ उसे क्या वह किसी भी दिन जान सकेगा ? या आज जो होने को है उसे भी क्या वह किसी दिन जान पाएगा ?

— नही, मेरा जाना तो संभव नहीं —

— अच्छा ! !

और जिस अनौपचारिक ढग से वह आया था उसी ढग से मेजर आनन्द लौट भी गया। अपनी टेबल पर ही क्रास की अनन्त पीड़ा को अनुभव

करता वह चिक के पार स्टार्ट होती हुई जीप, दर्प एवं उपेक्षा के भाव से युक्त वानीरा का व्यक्तित्व सब, देखता रहा। जीप चली भी गयी, पर जीप बारंबार उसके मन, अंतस्तल मे जाती रही, गुजरती रही। एक बार वानीरा ने इस तरह जाकर विवेक के चेतन, अवचेतन में हजारों बार जाना कर लिया। — वैसे भी उसके पास कोई खास रोगी नही हुआ करते थे। पर वह अपने चेम्बर मे खोया हुआ सा जाने कब तक जड़ बना बैठा रहा। प्राय: एक ही बात सैकडों बार दुहरती रहती है और हर दुहरने पर हम उसको नये ही रूप में समझने की चेष्टा करते हैं। विवेक को वानीरा का यह जाना उतना बुरा नहीं लगा पर उसे लगा कि वानीरा ने उसे पहले क्यों नहीं बताया ? तथा यह कि हर हालत मे मेजर आनन्द के बजाय वानीरा को आकर बताना चाहिए था, भले वह न पूछती। जिस स्थान पर सम्बन्ध अब आ खड़ा हुआ था वह कच्ची कगार वाला तट था। कोई भी लहर उसे गिरा सकती थी। लेकिन वानीरा — क्यों चाहती है यह ? क्या वह सचमुच ही चाहती है कि — विवेक उन व्यक्तियों में से था जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण बातों पर कभी अन्तिम रूप से निर्णय नही करना चाहते क्योंकि किसी भी बात का अन्तिम निर्णय एक साहस की अपेक्षा करता है। और साहस के बाद एक निश्चित कार्य को करना होता है। प्राय: इस तरह के दायित्वों से हम बचना चाहते हैं इसलिए मूल बात के चारों ओर जन्म भर चक्कर लगाने का स्थाम तो हममें हो सकता है पर अन्तिम निर्णय का साहस या दायित्व नही। जब वानीरा इतनी बड़ी अवमानना ही नहीं बल्कि अपमान कर गयी फिर भी उसके निकट 'वानीरा क्या चाहती है ?' का ही प्रश्न अनहल रहता है। — वह संदिग्ध बना बैठा रहा और जब अनिश्चित मन से उठा तब उसने बाहर आकर देखा कि सिविल लाइन्स में सन्नाटा है। सन्नाटा ऐसा नही कहा जा सकता था कि अभी-अभी हुआ होगा वरन सन्नाटा हुए भी काफी देर हो चुकी है, यह भी स्पष्ट था। दूर-दूर तक कहीं किसी रिक्शे की संभावना नही थी इसलिए वह पैदल ही घर के लिए

चल पड़ा। वैसे भी वह जानता था कि अभी वानीरा निश्चित रूप से नही लौटी होगी इसलिए घर पहुँच कर थका देने वाली, खीझ उत्पन्न करने वाली प्रतीक्षा करने से ज्यादा अच्छा था कि टहलते हुए ही घर जाए। घर थोडा दूर अवश्य था पर उसे प्राय. पैदल जाने की आदत थी। इसका कारण मात्र स्वास्थ्य नही था वरन आर्थिक अक्षमता ही थी। प्रायः यह हुआ है कि उसके बटुवे में दिनों तक एक भी पैसा नही रहा है जब कि वह लोकप्रिय डाक्टर होता जा रहा था। इसका मूल कारण उसकी वही संकोची वृत्ति थी। कोई भी उसकी करुणा उत्पन्न करवा सकता था। पहली बार ही में वह व्यक्ति के इतने निकट हो जाता था कि 'इंजेक्शन' या 'प्रिसक्रिपशन' की दवा के पैसे माँगने मे भी उसे जाने कितना संकोच होता था। प्राय: लोगो का हिसाब उसके यहाँ चलता था पर डाक्टर से लेकर कम्पाउन्डर तक जब वही था तब भला हिसाब का लेखा-जोखा कौन रखता ? और वह व्यक्तियो को बहीखाते के लेखे-जोखे के माध्यम से देखने का न तो पक्षपाती ही था और न आदी ही। वह अधिक से अधिक वही कर सकता था जो उसने डिब्रूगढ़ में किया था कि वानीरा ने बाँध दिया तो वह बँध गया था। स्वतः कुछ भी कर सकना उसके स्वत्व मे नही था। शायद इसलिए भी उसने किसी आते-जाते रिक्शे की प्रतीक्षा नही की कि कही उसे अपने खाली बटुए का सामना फिर न करना पड़े।

कम्पनी बाग पहुँचते-पहुँचते उसे लगा कि उसने सवेरे जो नाश्ता किया था उसके बाद कुछ नही खाया था और अब दस से अधिक हो रहा था, अतएव वह भूखा है। जाते हुए एक फेरी वाले से इकन्नी की मूँगफली खरीदी, जो कि उसकी अन्तिम पूँजी थी। कम्पनी बाग के गोल में जब वह पहुँचा तो उसने देखा कि रात यद्यपि काली ही थी पर चाँदनी रात से कही अधिक मोहक थी। हवा में फूलों की गंध उन्मुक्त थी। एक बेच पर बैठ कर वह आश्वस्त हो मूँगफली खाने लगा। सामने ही अँधेरे आकाश में पब्लिक लाइब्रेरी की मीनार मध्य-

युगीन अंग्रेज सामन्तों की तलवार सी खिची थी। एकाध रोशनदान से पीली रोशनी झाँक रही थी। दाहिने हाथ विक्टोरिया को मूर्ति पर बल्ब की पीली रोशनी चीवर बनी हुई थी। हम अपने व्यस्त एवं परेशान जीवन मे यह भूल जाते है कि इसी शहर में व्यक्तियो से भी अधिक सुखद ऐसे स्थान हैं जिनकी समीपता एक साथ ही एक कोमल गंध, एक मद आलाप तथा एक जीवन्त स्पर्श का सुख देते है और वहाँ मे लौट कर हमे अपनी शिरा-उपशिराएँ तक नहायी अनुभव होती है। शायद इसी अर्थ मे गायत्री मत्र की सृष्टि हुई है कि हम अपने बंद, बीमार, चिन्तित वातावरण से निकल कर दिन में एक बार पृथ्वी, ब्रह्माण्ड एवं चराचर को साक्षात स्वीकार कर विपुलता का अनुभव कर पुनर्शक्ति का अनुभव करे। जब कभी भूल से या अनायास निखिल का साक्षात हो जाता है तब हममे कैसा स्फूर्त विराट आ बसता है और अपने आसपास का वातावरण, लोग, समस्याएँ कैसी क्षुद्र, नगण्य लगने लगती हैं। नगर, सत्ता का अपहरण करता है जब कि अरण्य, सत्ता को स्वत्व देता है। — मूँगफलियाँ कभी की समाप्त हो गयी थी। नाक में अभी तक उनकी सोधी गध थी जिसके कारण वह और भूखा हो उठा था।

आज बरसों बाद उसे पुरी, अपनी 'निर्जन सिकता' काटेज, विपुल तट, बालू का गोरा विस्तार और जाने क्या-क्या याद आने लगे। आज पहली बार उसे बोध हुआ कि उसने क्यो पुरी छोड़ा? मृगमाया के पीछे भागने वाली वानीरा के पीछे उसे भी इसलिए भागना पड़ा कि वानीरा उसकी माया थी। और भागते-भागते आज वह किस अँधेरे में पराजित खड़ा है कि वानीरा मेजर आनन्द के साथ कभी 'रिजर्व फारेस्ट' जाती है तो कभी विन्ध्याचल-चुनार। कभी इस कर्नल की पार्टी में जाती है तो कभी नौका-विहार या डक-हंटिग। उसके चिकने गले मे मेजर आनन्द का कभी नैकलेस होता है तो कभी कोई चीनांशुक। और, और विवेक है कि कभी यह प्रश्न नही करता या करने नहीं दिया जाता कि यह मयूरवर्णी भूषा कहाँ से आयी? कैसे

आयी ? यह जो फर-कोट का पार्सल आया है इसका आर्डर किसने दिया था ? — लेकिन विवेक और वानीरा मे अन्तर क्या है ? प्रत्येक उपहार उसके सामने आया है और विवेक ने मौन उपेक्षा कर दी है तो वानीरा ने मौन स्वीकार कर लिया है। क्यों नही विवेक ने प्रश्न किया ? लेकिन किससे करता ? क्यो, वानीरा से कर सकता था। लेकिन क्या वानीरा यह नही कह देती कि जब आरंभ मे डिब्रूगढ में ऐसा नहीं किया गया भला अब उपहार कैसे लौटाये जा सकते हैं ?...और उसे लगा कि उसका दिमाग झनझनाने लगा है। अँधेरे मे जैसे ढेरो अग्नि-स्फुलिंग कौध-कौध पड़ रहे है। अँधेरा सुलगने लगा है। जलते अँधेरे का धुँआँ, चिरायँध सब उसे घेरने लगे है। ...जब कि सत्य यह है कि वह पहले दिन ही क्लाइड द्वारा प्रदत्त 'बेदिंग-सूट' का उपहार भी नही लेना चाहता था। हर बार उपहार मिलने पर वानीरा से प्रश्न करने को उसका मन हुआ पर प्रश्न गले में फँस जाता रहा। उसे बारंबार यही लगा कि ऐसा पूछ कर वह अपने और वानीरा के बीच जो संबंध है उसे दूषित, शकित या कलंकित नही करना चाहता। पति पत्नी के बीच भी एक सदाशयता होती है, मानते हुए चलना पडता है। जब कभी दोनो में से केवल एक ही व्यक्ति ऐसा मानता है तब विषमता अनिवार्य हो जाती है। — उसे अपनी ही कापुरुषता का बोध इतना ठण्डा लगा कि जूते के भीतर मोजे तक गीले लगने लगे। उसे लगा कि वह ऐसे त्रिपुल में बैठकर तो सम्पूर्ण स्वत्वहीन हो जाएगा, और उठा।

घर पहुँच उसे आश्चर्य हुआ कि कालीपद निश्चिन्त सो रहा है। कालीपद को विश्वास था कि विवेक भी साथ ही जाएगा और जब शाम ही नहीं रात भी हो गयी तब वह आश्वस्त हो गया कि वह भी चला गया है इसलिए किसी के लिए भी खाना बनाने की कोई आवश्यकता थी ही नही। विवेक जाकर कमरे में स्वस्थ हो बिस्तरे पर लेट कर किताब पढने लगा। वह अपरोक्ष रूप से वानीरा के लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था, लेकिन क्यों ? शायद परोक्ष रूप से इस बात का

उत्तर स्वयं उसके पास भी नही था। जब कालीपद ने अपराध भाव से पूछा कि अभी वह खाना बना देता है तो विवेक ने बड़े ही मीठे मुस्कराते हुए बता दिया कि वह एक पार्टी से सीधा लौट रहा है इसलिए खाना बनाने की जरूरत नही है। जाने कितने दिनों बाद विवेक ने कालीपद को आज ऐसे अकेले में देखा था। पुरी वाला कालीपद अब अधेड़ होने लगा था। कनपटी के पास सफेदी झाँकने लगी थी। बाल अभी भी अहीरों की तरह सीधे झारे हुए थे। मूँछों के पीछे सदा बुदबुदाते रहने वाले ओठ इस समय भी बुदबुदाना चाह रहे होंगे पर विवेक को लगा कि बोलने की आकांक्षा के स्थान पर उनमे दुःखी होने की झलक थी। विवेक एक क्षण मे समझ ले गया कि यदि एक मिनट भी अधिक कालीपद खड़ा रहा तो संभव है वह कुछ पूछ बैठे। कालीपद विवेक के पैरों पर अलवान ओढ़ा कर चला गया।

उसे ठीक याद है कि कर्नलगज थाने की चार की गजर तक वह बराबर जागता रहा था। उसके बाद ही किसी समय उसकी आँखें झपक गयी थी शायद तभी बाहर बरामदे मे वानीरा की हँसी तथा कालीपद की आवाज सुनायी दी थी। उसका मन तो हुआ कि वह जाकर एक बार जोर से झकझोर कर वानीरा से पूछे कि क्या यह लौटने का समय होता है ? लेकिन उसे लगा कि यदि वानीरा के निकट लौटने का कोई और समय होता तो वह उसी समय नहीं लौटती ? जब वह इस समय लौटी है तो उसके बारे मे क्या पूछना ? और पूछने से क्या होगा ? उसकी दृष्टि से जिस समय लौटना चाहिए था, के लिए विवेक को या तो साथ होना चाहिए था या वानीरा को साहचर्य-जीवन मे बोध करवा दिया जाना चाहिए था। जब दोनो ही काम विवेक ने नही किये तब भला आज सहसा यह प्रश्न करना कितना ओछा एवं हास्यास्पद होता। और उसने देखा कि उजालदान से प्रातःकालीन आकाश का पहला नीलापन मुस्करा रहा था।

शायद इसके दो माह् उपरान्त एक दिन अत्यन्त खिन्न मन और दुखते सिर के कारण अनायास तीसरे प्रहर विवेक घर लौटा तो उसने बाहर पोर्च मे मेजर आनन्द की जीप खड़ी देखी। उसे कोई आश्चर्य नही हुआ और न होना ही चाहिए था पर वह सतर्क अवश्य हो गया, जब उसने देखा कि वानीरा के कमरे में किंचित उत्तेजित वातावरण है। वह सीधे चुपचाप अपने कमरे की ओर बढ गया। कई बातों की न गध होती है न स्वर होता है पर फिर भी वातावरण उससे गधित लगता है, स्वरित भी लगता है यदि कोई सुन सके तो। इसी तरह विवेक को भी लगा कि घर का मौन यद्यपि अन्य दिनो की तरह ही था पर फिर भी एक विशेष गध या स्वर उसमे है जिसे उसकी इद्रियाँ ग्रहण नही कर पा रही है, पर जिसका आभास हो रहा है। अनजाने मे ही वह इतना सतर्क हो उठा था कि उसने अपनी उपस्थिति स्वतः अपने लिए भी अनजान रहने देने के लिए अपने को एक कुर्सी पर नि शब्द लिटाये रखा। खिडकी के पर्दे के झीनेपन से पूरा बरामदा, पोर्च, लान, लान की धूप आभास दे रहे थे। अज्ञात में उसे लगा कि ठहरी हुई पुतली की तरह इस दृश्य वातावरण में अवश्य कुछ नाटकीय घटित होने वाला है। कभी-कभी सभी को अनागत की अस्पष्ट छाया वर्तमान पर गिरती दिखती है। और वही हुआ भी। विवेक ने देखा कि आनन्द काफी उत्तेजित सा बाहर निकला तथा वानीरा टूटे कदम्ब सी रोयी आँखे लिये बरामदे तक आयी।

— आनन्द ! अब मै विवेक को क्या मुँह दिखाऊँगी ?

वानीरा का यह क्षीण वाक्य जो कि कराह जैसा ही था शायद आनन्द की पीठ से टकराया जो उसे किसी अस्त्र के प्रहार सा ही लगा और वह मुडा,

— वानीरा ! मेरा विश्वास करो...

— कि तुम लद्दाख से लौट कर आओगे और भावी शिशु को अपना कर मुझे लाछना से बचाओगे, यही न ?

बरामदे की सीढ़ियो पर धूप को कुचलता हुआ आनन्द एक ऐसे छल

की तरह खड़ा था जिसे वानीरा ललक कर अन्तिम बार के लिए गहना चाहती थी और वह छल अन्तिम बार के लिए विलग होने के लिए व्याकुल।

विवेक के लिए अब विशेष कुछ भी देखने सुनने के लिए शेष नही रह गया था। देखा तो साधारण ही था पर जो सुना उसके कारण लगा कि उसे तेजी से किसी ने उबलते लावा मे सदा के लिए फक दिया है, जहाँ अब कोई निष्कृति नही। जिस सिर-दर्द के कारण वह घर आया था उसकी पराकाष्ठा यह थी कि यदि वह दोनो हाथों से सिर नही थामता है तो सिर की हड्डियाँ उड़ जाएँगी। उसे इस बात की संज्ञा तक न रही कि उसने क्या सुना ? क्योकि सुनने का प्रभाव ही इतना भीषण था कि उस सुनने के बारे मे, बात के बारे में कुछ भी सोचना सभव नही था। छोटा कारण ही याद रहता है, बड़ी बात का तो प्रभाव ही घिरता है। ... उसे अब एक ही बात बार-बार घेरने लगी कि कैसे वानीरा, नही, बल्कि वह स्वयं वानीरा का सामना कर सकेगा ! ... क्योकि व्यक्ति लज्जा, अपमान, तिरस्कार सब का सामना एक सीमा के बाद भी कर लेता है पर लाछन ... और विवेक के निकट सब कुछ स्पष्ट हो गया कि यह सब, कहाँ और कैसे सम्पन्न हुआ होगा ... बल्कि विन्ध्याचल की वे भूरी पहाड़ियाँ, डाक-बँगला, बल्कि वह कमरा तक बता सकता है ... लेकिन इससे क्या ? हुए को अनहुआ न विवेक, न वानीरा, न आनन्द कोई नही कर सकता ... उसके अवचेतन मे जाने कहाँ, किन दो कमरों में दो लाशे झूलने लगी ... उसके बाद लोगो की क्या प्रतिक्रिया हुई, कैसे प्रवाद फैला ... कुछ लोगों को कैसे आनन्द से ईर्षा होने लगी, विवेक पर तरस खाया गया, ब्रिज की टेबल पर ढेर सा धुँआ छोड़ते हुए ठहाके लगाये गये ... और ... और वानीरा के लिए ... और तभी बाहरी फाटक पर रिक्शे वाले से कालीपद का झगडना सुनायी दिया। वह कर्नलगज से सौदा-सुलुफ खरीद कर लौट था।

उसे हठात लगा कि वह जिस मुहूर्त में खड़ा है वह शाति और तूफान

के बीच का अत्यन्त ही चिड़ियावत निरीह क्षण है। यदि वह जरा सी भी देर करता है तो वह ग्रस उठेगा। वह केवल इस निरीह क्षण की ऐकान्तिकता को थोड़ी देर के लिए और लम्बा कर सकता है।...और वह कैसे निःशब्द, चोरो की भाँति घर के पिछवाड़े की तरफ से निकल कर पोखरों के झुरमुटो मे पहुँच गया था। अब वह केवल एक ही बात जानता था कि आज जो कुछ उसने सुना उसके बाद वह केवल नाद, घोष जैसे मोटे-मोटे स्वर ही संभवतः सुन सकता है। उसे पहली बार अपना सिर इतना भारी बल्कि पथरीला लगा कि सभव होता तो सिर को किसी पत्थर पर अलग से रखकर कुछ देर के लिए निश्चिन्तता अनुभव करता क्योकि उसे अपना सिर किसी प्रतिमा के सिर की भाँति ही लग रहा था। टैगोर-टाउन की सुनसान सड़क पर पीपल अपनी आदिम ऊँचाइयों में निरर्थक गौरवशाली बने खड़े थे। उत्तर पश्चिम में जाती रेलवे लाइन का बाँध अपनी हरी ऊँचाई मे खिचा चला गया था। जाती हुई धूप का अवशेष मात्र ऊँचे पेड़ों पर आज के लिए चमक रहा था।

बाँध पर पहुँच कुछ ताजगी एवं हल्कापन लगा पर वह भ्रम था वातावरण का, जो कि वहाँ पहुँचने पर एक क्षण को लगा था। मोड़ लेती हुई रेल की पटरियाँ बड़े यात्रा-भाव मे खिची हुई थी। पटरियो को आक्षितिज खिचा देख सदा लालच लगता है कि इन पर बस चलते चला जाए, वैसे ही निरुद्देश्य जैसे कि ये पटरियाँ यात्रित हैं। रेल की पटरियाँ स्वयं एक यात्रा होती हैं जो हमें हमारे गंतव्य पर छोड़ स्वयं आगे बढ़ जाती है। पटरियों पर पैर रखकर चलने का भी एक मोह होता है विशेष कर तब और भी जब चारो ओर का दृश्य निचाई पर हो।— जगली घास हवा मे लहराती बिछी थी। इलाहाबाद प्रायद्वीप का यह समाप्त होता हुआ मुख था। बड़ी सघनता थी। जाड़ों का आभास गंगा पर से होता हुआ सघनता में स्पष्ट था। पर्तों में कुहरा छाने लगा था। वह जिस ढंग से पटरियों के साथ-साथ चल रहा था उसे यदि कोई ऐसा व्यक्ति देखता जो उसकी मनःस्थिति से भी अवगत होता

तो वह निश्चित रूप से चीख पडता कि यह व्यक्ति आत्महत्या करने जा रहा है। जब कि वास्तविकता यह थी कि विवेक मे ऐसी साहसिकता तो दूर, किसी भी साहस की शक्ति तक नही थी। पैरो तथा हड्डियों तक मे अनसोचा ठण्डापन लिये वह केवल चला जा रहा था। बड़े अस्पष्ट रूप मे वह केवल यही जानता था कि यदि वह इसी प्रकार चलता चला गया तो पहले प्रयाग स्टेशन आएगा और अगर वह और चलता गया तो फाफामऊ का पुल पड़ेगा। वैसे वह नही जानता था कि वह क्यों, कहाँ और कब तक ऐसे चलता चला जाएगा। वह तो सभवतः इसलिए ऐसे चला जा रहा था ताकि सम्पूर्ण रूप से देह के थक जाने के बाद शायद है थकी देह और थके मन मे समरसता स्थापित कर सके।

प्रयाग स्टेशन एकदम वीरान पड़ा था। किसी खाली स्टेशन के बड़े से प्लेटफार्म पर से गुजरने का अपना ही अनुभव होता है। क्योकि ऐसे समय आप इस बात के प्रति पूरी तरह सचेष्ट होते है कि शेड्स, ओवरब्रिज, बेंचो आदि को आप के गुजरने का पता है और हर गति के प्रति जड़, विनम्रित होता ही है।...जिस समय वह फाफामऊ पुल पर पहुँचा, काफी रात हो गयी थी। अँधेरे मे काफी ठण्डापन भी आ चुका था। वैसे हवा नहीं थी पर ठण्ढ मे ठिठुरन काफी थी। आकाश बहुत साफ नही था क्योंकि तारे दिख अवश्य रहे थे पर छिटके हुए नहीं थे। जहाँ से पास वाली सड़क रेलवे लाइन पर ऊपर चढ़ने को हुई विवेक पटरियाँ छोड़ सड़क पर आ गया। पुल पर पहुँचते ही जैसे ही पुल का खाली-खाली सा फैलाव आया पहला प्रश्न उसके मन मे यही उठा कि अब वह क्या करे? पुल पर अपेक्षाकृत अधिक ठण्ढ थी। जिस समय वह रेलिग थाम कर खड़ा हुआ, रेलिग का ठण्ढापन क्षणान्त मे ही उसकी समूची देह मे व्याप्त होकर उसे कँपा गया। पैरो के नीचे गंगा का विस्तार, बालू और धारा के साथ बिछा था तथा सिर के ऊपर असंपृक्त चिर परिचित आकाश। अँधेरे मे कहीं-कही बत्तियों का आभास उस विपुल निर्जनता को झुठला रहा था। उसे इस असंग

व्यापार मे पहली बार लगा कि वह इस नगर मे ही नही बल्कि जीवन मे भी आज वास्तविक रूप से अकेला हो गया है। व्यक्ति अपने लिए नही जीता। वह किसी का है यह चेतना, बोध ही उसकी देह, इन्द्रियों को बनाये रखते है। परिवार, कुल या समाज उसे धारे रहते है। लेकिन जिस दिन चारो ओर की यह मिट्टी ढह जाती है उस दिन एक-एक जड सूख जाती है और जडो के सूखते ही चाहे वह कदम्ब हो, अश्वत्थ हो, या वटवृक्ष देखते-देखते मुरझा जाता है। उसे लगा कि उसकी जडे सूखने लगी है। वह पुकारना चाहता था, पर किसे ? इस पुल पर से वह किसे पुकार कर बुलाना चाहता है ? तारो को ? तटो को ? गगा को ? अँधेरे को ?...ऐसे सर्वात्मवादी, कभी व्यक्ति की पुकार नही सुनते। पुकार तो एक व्यक्ति के लिए होती है। विपुलता, व्यक्ति नही होती। फिर भी कई बार जब हम व्यक्ति द्वारा प्रताडित होते है तब विपुलता हमे सान्त्वना देती लगती है। संभवत: वह भी सान्त्वनातुष्ट बना खड़ा रहा तथा आकाश, अँधेरा विलोकता रहा। पुल पर से इस बीच गड़गडाते हुए कई ट्रक गुजर चुके थे। अभी थोड़ी देर पूर्व नीचे से कोई ट्रेन भी गुजरी थी तब पुल थोड़ा सा चौका था। पर विवेक अपने में ही खोया रहा। अज्ञात मे उसे बहुत स्पष्ट लग रहा था कि सब समाप्त हो चुका है। पर कोई उससे इसको सज्ञित करने के लिए कहता तो वह बौखला उठता कि सच ही वह कुछ नही जानता। फिर भी एक बात अब वह निश्चित रूप से जान रहा था कि भले ही सब कुछ समाप्त न भी हुआ हो पर इलाहाबाद अब और रहना नही हो सकेगा। अच्छा है पुनः लौट जाया जाए।

जैसे ही उसने अपने विचारो को एक निर्णय का रूप दिया तो उसे लगा कि अरे वह फाफामऊ पुल पर खडा है। बड़ा अँधेरा है। हवा, चिड़ियो की तरह छोटी-छोटी चल रही है पर उसमे ठिठुरन खासो है और वह रेलिग थामे ऐसा जाने कितनो देर से खडा है। उसे लगा कि आठ वर्षो की निष्क्रियता के बाद पहलो बार उसने एक सक्रिय निर्णय लिया था। निर्णय के बाद उसे अपना मन वैसा ही हल्का लगा

जैसे उसका मन भी तैरता हुआ कुहरे का एक नीला टुकडा हो। अब अधिक सोचना व्यर्थ था। वह अब सोचने की सीमा को पार कर चुका है। अब तो केवल निर्णय को कार्य रूप देना है। अब वह वैसा ही अनुभव कर रहा था जैसे जाड़े के दिनों मे कई दिनों उपरान्त नहाया हो और धूप मे देह सिक रही हो।

इसके बाद विवेक और वानीरा एक दूसरे से प्रायः कतराते ही रहे। वानीरा अपनी सहज नारीगत बुद्धि से समझ ले गयी कि किसी तरह विवेक को गर्भ वाली बात मालूम हो गयी है, लेकिन कैसे ? अभी तो तीसरा ही महीना है। भला यह बात उसे कैसे मालूम हुई ? वानीरा इस बात को नही जान सकी। उसे अच्छी तरह याद है कि उस दिन कालीपद बाजार गया हुआ था। विवेक के घर पर होने का प्रश्न ही नही था और उसने देखा था कि उस रात करीब ग्यारह बजे वह लौटा था, तब ? और इस तर्क-वितर्क मे सात दिन बीत गये।

जब औपचारिक रूप से विवेक को मालूम हुआ कि आनन्द लद्दाख के मोर्चे पर भेजा जा रहा है तब भी उसने कोई अभिव्यक्ति नही की। वानीरा के लिए विवेक का यह उपेक्षा भाव नया भी नहीं था इसलिए उसने इसे सामान्य ही माना। आनन्द की विदापार्टी के दिन भी विवेक सयत ही बना रहा। यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं थी पर उसे आश्चर्य ही नहीं बल्कि वह शंका के मारे कांप उठी थी जब आनन्द को विदा देने स्टेशन पर जाने के लिए विवेक ने आग्रह ही नही वरन् आदेश तक दिया। संभवतः पहली बार उसने अनेक वर्षों के बाद विवेक को पुरुष रूप में आचरण करते देखा। वैसे वानीरा किसी भी मूल्य पर स्टेशन नहीं जाना चाहती थी पर विवेक ने जिस प्रकार सारथीत्व ग्रहण कर लिया था उसमे वानीरा के लिए अस्वीकार

करना असंभव हो गया। स्टेशन पर पूरे समय वानीरा सशंकित ही बनी रही यद्यपि विवेक का आचरण अत्यन्त सामान्य ही था। कहीं से भी यह नही लग रहा था कि यहाँ आने में उसका कुछ अतिरिक्त भाव भी है। सदा की तरह उसने वानीरा को यह अवसर भी दिया कि वह आनन्द से चाहे तो सदा की तरह खुल कर बातें कर सकती है, पर उसने अपने को व्यस्त रखते हुए भी देखा कि आनन्द और वानीरा एक दूसरे के नैकट्य से बच रहे हैं।
और आनन्द चला गया।

दूसरे दिन। सवेरे।
प्रायः इस बेला तक विवेक रोज ही चला जाता है लेकिन आज हठात उसे घर पर ही तथा वह भी अपने कमरे में महीनों बाद आया देख वह मात्र चौकी ही नही वरन अन्तर में भय से पीली पड़ गयी। अभी वह तत्काल नहा कर गुसलखाने से बाहर आयी ही थी। अभी तो वह एकवस्त्रा ही थी। विवेक को द्वार पर खड़े देख उसे अपनी देह, दो कारणों से छुपाने की आवश्यकता हुई। एक तो यह कि वह कँपकँपा रही थी तथा दूसरे उसे लगा कि एक वस्त्र में उसकी देह कही वह न अभिव्यक्त कर दे जिसे वह विवेक से छुपाना चाहती है। यद्यपि उसकी गरम शाल बीच के सोफा-पीस पर थी पर उसके पैर उठ ही नही पाये। वह अंग चुराती ठगी सी बनी खड़ी रही। औचक में वह विवेक की ओर देख गयी पर चेत आते ही वह नतशिर हो प्रतीक्षा करती रही कि देखे विवेक क्या कहने आया है? यदि विवेक न भी कहता तो भी उसे अब स्पष्ट था कि विवेक को सब ज्ञात हो चुका है लेकिन......
— वानीरा!
स्पष्ट था कि बरसों बाद विवेक उससे कोई बहुत गंभीर बात कहने

वाला था। वानीरा को स्पष्ट याद है कि कैसे वह पैरों की ओर से तेजी से जमती चली गयी थी। फिर भी उस क्षणांत में चाह गयी कि विवेक को जो कुछ कहना है वह शीघ्र कह दे। जो भुगतना है वह शीघ्र हो जाए। उसने अपने को सब कुछ सुनने और सहने के लिए तैयार कर लिया था।

— वैसे भी तर्क करना तुम्हें भी प्रिय नहीं है और मुझे...क्या प्रिय है, क्या नही का कोई अर्थ नहीं।...मै सोचता हूँ कि इस सप्ताहान्त तक हम लोग भी पुरी के लिए चल पड़ें।

विवेक इस तरह की बातें बड़ी ही हड़बड़ाहट तथा एक साँस ही में कह डालने वाला व्यक्ति है पर आज उसने कहने में कोई जल्दबाजी नहीं की बल्कि वह इतने ही निश्चित मन से कह रहा था जैसे पैरों पर धूप लिये अपने को सेक रहा हो। वानीरा अब तक आद्यन्त प्रतिमा हो चुकी थी। उसने लौटते हुए विवेक की छाया पाँवपोश के पार दाहिनी ओर जाते हुए देखी। पर्दा थोड़ा सा मोटा-मोटा हिलकर फिर लटक आया। उसे लगा कि अब वह स्वतः कुछ नहीं रह गयी थी, देह में आनन्द और विचारों में विवेक। उसे लगा कि आज प्रथम बार वह विवेक के निकट निर्वसन हुई।

पुरी लौट आने के एक माह के भीतर ही विवेक ने डिस्पेन्सरी आदि की व्यवस्था कर अपने को सुखी, तुष्ट एवं व्यवस्थित पाया। इसका कारण यही था कि अब वह जो कुछ था या उसे जो कुछ होना था उसमें वह स्वतः ही था, वानीरा कहीं नहीं थी। इलाहाबाद में जो मौन वानीरा ने वरा था उसे वह एक क्षण को भी नहीं तोड़ना चाहती थी और विवेक ने भी कभी इसके लिए बाध्य नहीं किया होगा। अब विवेक के पास समय ही समय था। 'चैतन्य-मठ' जाकर प्रमथ बाबू के विषय में जिज्ञासा कर आया था कि वह हैं या नहीं ? और वह मथुरा-वृन्दावन की यात्रा पर दीर्घकाल तक के लिए गये हुए थे इसलिए न वानीरा, न विवेक किसी को कहीं आना-जाना नहीं था। वैसे भी व्यक्ति जब बहुत अनुभवी हो जाता है तब वह कहीं भी आने-जाने से परे हो जाता है।

रात को विवेक घर जल्द लौट आता। कई दिनों के परिश्रम के बाद वह अपनी किताबें, कागज-पत्र, मूर्त्तियाँ आदि सहेज-समेट सका है। जब तक अपना मार्ग तय नहीं होता तभी तक भटकाव रहता है पर अब विवेक-वानीरा के सामने मार्ग निश्चित ही नहीं बल्कि अन्तिम गति के रूप में स्पष्ट था। आज से आठ वर्ष पूर्व भी इसी 'निर्जन सिक्ता' में आते-जाते विवेक के जूतों की खटखट हुआ करती थी पर पहले अपेक्षाकृत तेजी होती थी जबकि आज समरसता आ गयी थी।

इस बार विवेक दुगुने उत्साह से मूर्तियों के बनाने में बझ गया था। दोनों ही अपने को व्यस्त रखते या कहा जाए कि दिखलायी देते। साथ ही एक दूसरे के सहज सम्पर्क को भी बचाते थे। दिन भर वानीरा क्या करती है यह विवेक को न तो मालूम ही था और न विवेक को अपेक्षा ही थी। हॉ, विवेक बैग, स्टेथस्कोप हाथ में लिये जाता-आता है इतने की साक्षी वानीरा है। उसके आगे-पीछे क्या होता है इसमे उसकी कोई रुचि नही थी। विवेक की ओर से संबंध नही, दायित्व शेष था। वानीरा की ओर से क्या था इसे वह स्वतः नही बूझ पा रही थी। उसे यहाँ होना था इसलिए वह यहाँ है, के आगे देख पाना उसके लिए कठिन हो रहा था। केवल अपनी खिड़की से वही चिर-परिचित अपना समुद्र देखती रहती जिससे वितृष्णा हो वह आठ वर्ष पूर्व चली गयी थी। समुद्र का वह निर्मम एकान्त फिर खिड़की में आकर टँक गया था और जिसे देखते रहने के लिए वह बाध्य थी। औचक में कैसा आश्यचर्य होता कि अभी तक वही समुद्र है, बल्कि कहना चाहिए लहरे तक वही हैं। कभी ऐसा नही होगा कि एक दिन को भी यह एकान्त तट विस्तार, जलपाखियों का सुदूर में उड़ते हुए क्षितिज में खो जाना न हो? वही 'बीच' का भूरा अर्धवृत्त, होटल की वही हरी खिड़कियाँ, बेंचे तक वही,...माँ! गो!! कुछ भी तो नही बदला। बल्कि वह कह सकती है कि आज से आठ वर्ष पूर्व गेंदे की क्यारियों में जो फूल खिले थे वे तक वही है, वे भी नये नही आये।...इस वितृष्णा रोज-रोज की भावना से कोई मुक्ति नही...और वह हताश हो जाती है। कभी-कभी वह दिन-दिन भर खिड़की के पास बन्दियों की सी विवशता लिए निढाल हो बैठी रहती है। उस समय या तो कोई अधूरा स्वेटर उसकी थकी अँगुलियो मे भूला पड़ता या अधखुली किताब पर अँगुलियाँ गूँथे वह ऐसे विमन से बैठे रहती जैसे वह अपनी प्रतिकृति हो। अपने को अपनी ही प्रतिकृति को सौंप देने में कितना बड़ा सुख है, पर, दुःख की पराकाष्ठा पर द्रौपदी के चीर सी खिचती धूप को जाते देखती तो उसमें जाने क्या-क्या घटने लगता। पूरा दिन अनमनी

आँखों के सामने से बह जाता और उसके चौके मन में केवल हाहाकार होता। उसे लगता कि समुद्र उसे बहा कर कहीं दूर ले जाए क्योंकि अब स्वयं तो कहीं जाना हो न सकेगा। ऐसे ही समय तथा अवचेतन में वह जीव आरात्रिक परिक्रमा करता सजीव हो उठता जिसे वह गुप्त धन सी छुपाये बैठी थी। अब उसे यही लगता कि या तो वह जीव इसी अवस्था मे समाप्त हो जाए या फिर पहले शिशु की तरह यह भी... और वह फफक-फफक कर प्रायः रो पड़ती। अज्ञात मे वह भय से कैसी पीली पड़ जाती रही है कि एक दिन उसके उदरस्थ वाला यह जीव जब चक्रवर्ती की भाँति जयघोष करता उसके सामने आ खड़ा होगा तब वह क्या करेगी? — और वह विवेक को पुकारना चाहती रही...क्या विवेक अब किसी भी अच्छे या बुरे का भागीदार नहीं बनेगा? — ओ विवेक !!

रात में जब कभी वह घबरा कर जागी है तो उसने अपने को पसीने से लथपथ पाया है। खिड़की के बाहर सागर की अहर्निश गुर्राहट को रात्रि के अकेलेपन में सुन वह जम जाती रही है। पुरी आने के बाद से वे कभी एक कमरे में नहीं सोये है। वह आहट लेती है कि विवेक इतनी रात में क्या कर रहा है? कभी-कभी दबे पाँव वह उसके कमरे तक भी गयी है और ऐसे में उसे या तो मूर्तियो में बझे पाया है या टेबल पर झुके कुछ लिखते-पढ़ते। उसकी ईर्ष्यालु निश्चिन्तता को चीथ देने को उसका मन किया है कि कैसे शान्त भाव से हाथ का तकिया दिये सो रहा है...और वह केवल आर्त करती अपने कमरे में लौट आयी है। कितना उसका मन हुआ है कि वह दौड़कर विवेक के सीने पर सिर रख कर इतना रोये, इतना रोये कि सारा विगत अपने शाखा-मूल के साथ विनष्ट हो जाए और विवेक-वानीरा एक बार फिर से स्नात, घुले-धूप से चमकते हुए खिल आएँ।

पुरी लौटने के बाद से दोनों वास्तव में दो हो गये थे। अब भी वानीरा अपनी खिड़की से डिस्पेन्सरी जाते विवेक को देखती है पर कैसा अजीब है कि वह विवेक को अलग तथा उसके जाने को बिल्कुल अलग करके देखती है। वैसे तो वह पहले भी जानती थी कि आज वह जो कुछ हुई है उसमें उसी का दोष है न कि विवेक का, पर विवेक ने अपनी निस्पृहता के द्वारा उस घाव को कुरेद कर वानीरा के लिए असह्य कर दिया है। वानीरा कभी विवश या अवश नहीं हुई थी पर अब तो वह हताश है। घिरा जल भीतर भी जाने लगा है, यह प्रतीति ही उसका दम घोटने लगती है। ज्वार का पूरा एक बेलन उसे रौंध-रौंध जाता है और वह हाँफ उठती है। स्वप्न में अनेकों बार वह बालू के विस्तार में नगे पैरों दौड़ती चली गयी है, दौड़ती चली गयी है और सागर में क्षीणतर होते हुए समाहित हो गयी है। अपने इस अवसान पर गहरी परितृप्ति होती कि अब उसे फिर कभी क्लाइड, आनन्द, विवेक किसी का भी सामना नही करना पड़ेगा पर दूसरे ही क्षण उफनाते समुद्र के साथ सम्पूर्ण तिरस्कार के साथ जब वह बालू पर वापस फेंक दी गयी होती तथा अपने को इस अपेक्षा के साथ फिके देख वह भय से चिल्ला पड़ी है, चीख उठी है — ओ विवेक !!

आज रात भर वह सो न सकी। वह इस मौन, अनिर्णय, उपेक्षा से घबरा उठी है। वह शब्दहीनता का बोझ अब और नहीं सह सकती है। विवेक को बोलना ही होगा ?वह बोलना सुनना चाहती है। कितने दिनों से वह स्वयं नही बोली है इसलिए मुँह कैसा अजीब कड़वा-कड़वा सा हो गया है। बिफरी हुई रात भर वह चक्कर लगाती रही। अपने साथ कमरे में डोलती अपनी ही छाया उसे कभी-कभी चौंका जाती। रात भर हवा के तेज झोंकों में वह वैसे ही साँस लेती रही जैसे वह खूब हाँफ रही हो। उसे अपने टूट जाने का दुःख नहीं था पर उस टूटने की आज तक कोई आवाज तक नहीं हुई, इसी बात पर वह बिफरी हुई थी। विवेक से वह बातें करना चाहती है। वह कुछ कहना चाहती है। जो उसके पेट में मथ-मथ उठता है उस अवांछित को वह उगल कर विवेक के सामने रख देना चाहती है कि लो, एक दिन ऐसे ही तुम भी मुझमें थे। मैं उसे स्वरूपित नहीं कर सकी और आज यह...और विवेक के कमरे के अटके पल्लों को थोड़ा सा उघार कर झाँकती है। मद्धिम आलोक की छाया में निर्विकार सोये विवेक का सन्तुष्ट मुख ताजे शंख सा निःस्पन्द था। वर्षों बाद विवेक, अत्यन्त सुन्दर एवं आत्मस्थ मुख का, प्रिय लगा। कभी इसी मुख को शिरीष का फूल समझ रीझी थी। इसे ही अपने स्तनों के बीच ढाँक, गरम-गरम अनुभव किया था। वर्षों बाद भी इस मुख के ओठों की छुअन

सम्पूर्ण देह मे अनुभव हुई और उस संकोच में इस क्षण भी रानें भिच उठी। अपने तन के अन्तर में, सुदूर गहरे में कैसे विवेक को कभी उसने एकान्त धारा था। भीतर पारे की लकीर सी खिचती ही चली गयी थी सुख की...लोभ हुआ कि क्या फिर कभी ? फिर कभी...? अभी वह ललक कर उसे अपनी आर्त बाहुओ में भर लेना चाह रही थी कि विवेक ने हौले से मुसकराते हुए आँखें खोली। उसके आँखें खोलने मे नीद से जागने का भाव नहीं था बल्कि जैसे वानीरा के विचारो को वह देख रहा था और अब मुसकरा रहा था। उसके इस प्रकार मुसकराने पर वानीरा का हतप्रभ होना स्वाभाविक था क्योकि पुरी आने के बाद इस प्रकार बीतती रात्रि में एवं एकान्त में हठात पहली बार विवेक के सामने पड जाने पर विवेक क्या सोच रहा होगा, यही बात उसे अप्रतिभ कर ले गयी। उसे लगा कि वह पराजित है, यद्यपि वह पराजय स्वीकारने ही आयी थी पर ऐसा स्वीकारने के पूर्व ही पराजय की स्थिति मे हो जाना कितना खलता है न ?
पहली बार वानीरा को लगा कि सचमुच का पुरुष जब मुसकराता है तब वह सर्वजित मुसकराहट ही होती है। आनन्द के ओठों पर तो उसने सदा इसे देखी है पर आज पहली बार विवेक सर्वजित मुसकराहट मुसकरा रहा था। यथावत लेटे हुए वह बोला,
— आज बड़ी सवेरे जाग गयी।
वानीरा के हठात इस तरह उपस्थित होने पर आश्चर्य प्रकट न कर विवेक ने वानीरा पर क्या यह नही अभिव्यक्त किया कि इस उपस्थिति की उसे प्रतीक्षा थी ही ? वानीरा ने विवेक की बात का कोई उत्तर नही दिया क्योकि वह प्रश्न नही था बल्कि उलाहना था। वह खिड़की का पर्दा थामे, होते सवेरे का ताजा समुद्र देखती चुप बनी रही। वह सायास स्पष्ट कर देना चाहती थी अपने मौन से कि विवेक, वानीरा को अधिक कोमल रूप में ले। देख वह समुद्र रही थी पर विवेक को अदेखे भी टोह रही थी। उसे लगा कि वह असुविधात्मक मौन को शायद तोड़ना नही चाहता बल्कि गुसल की तैयारी कर चुका है तथा किसी

भी क्षण वह जा सकता है। वह ठण्ढे पसीने से भीगी जा रही थी। घूंट उतारते रहने पर भी गला सूखा-सूखा पड रहा था। वह तय कर लेती है कि उसे जो कुछ कहना है वह आँखे बन्द कर तथा मुट्ठियाँ भीच कर वैसे ही कह देगी जैसे कि यह भी प्रसव ही है और तब विवेक को सुनना ही पड़ेगा। ऐसी तिरस्कृत उपेक्षा, ठण्ढे सौहार्द्र से अच्छा है वह आक्रोश जिसका शब्द होता है, झनझनाहट होती है। आपके सामने व्यक्ति खडा दिखता है न कि कोई सौजन्य।

— मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ विवेक !

विवेक ने वानीरा की ओर देखा। वह पीठ किये पर्दा थामे किसी उपन्यास की नायिका लग रही थी लेकिन वह नायक बनने के लिए कम से कम इतने सवेरे बिल्कुल भी तैयार नही था, बोला,

— मैं जानता हूँ वानीरा ! कि तुम क्या कहना चहती हो। साथ ही मै वह भी जानता हूँ जो तुम नही कह सकती हो, लेकिन मेरी कठिनाई यह है कि मै यह भी जानता हूँ कि सब कुछ जाना हुआ जब नही कहा जा सकता है तब उस मात्र कुछ को जानने की क्या आवश्यकता है ?

विवेक की बात पर जिस मर्माहत रूप में झटके के साथ वानीरा ने उसकी ओर देखा उससे विवेक को लगा कि वह अवश्य कुछ कहेगी और वह बोली भी,

— तुम क्या सब जानना चाहते हो ?

— ठहरो वानीरा ! मुझे कोई जिज्ञासा नही, इसलिए कि हमारे बीच अब पति-पत्नी का विश्वास नही शेष है। मै सामाजिक मुखोश उतार फेकने के लिए कभी नही कहूँगा पर इतना मेरा आग्रह अवश्य है कि हम अपने लिए घोषित रूप में सबधो को उतार फेंके — लेकिन सबंध के रथ पर से पहले तुम्हें उतरना होगा, इसलिए कि तुम्हारी सुरक्षा का दायित्व मैने एक दिन लिया था।

— तुम क्या कहना चाहते हो ? ... मैं पश्चाताप में जल रही हूँ विवेक ! मैं अपने को समाप्त कर देना चाहती हूँ ...

— मूर्ख न बनो वानीरा। कुछ समाप्त नही होता। समाप्त जैसी कोई चीज नही होती। — तुम्हें याद है महाभारत के अन्तिम दिन सारथी श्रीकृष्ण ने पार्थ से कहा था कि पहले वही रथ से उतरे। सप्रश्न अर्जुन रथ से उतर आये। उसके बाद श्रीकृष्ण उतरे। श्रीकृष्ण के उतरते ही रथ मे आग लग गयी। अर्जुन इस लीला को नही समझ सके। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि पार्थ ! यह रथ तो महाभारत आरभ होने के दिन ही भीष्म और द्रोण के बाणों से स्वाहा हो गया था परन्तु मै उस पर था इसलिए तुम सुरक्षित रहे। यदि मै पहले उतर जाता तो तुम भस्म हो जाते। — वानीरा ! हमारा सबध-रथ भी पुरी छोड़ने के दिन ही भस्म हो गया था — क्या यह अच्छा नही कि तुम इस पर से पहले उतरो ? — जहाँ तक दायित्व है उसमें तुम मुझे ...

शायद पर्दा टूट गिरा और वानीरा अरहरा पड़ी।

रोज की तरह थोड़ी देर बाद हाथ में बैग एवं स्टेथस्कोप लिये विवेक 'सी-बीच' वाली निर्जन सड़क पर चला जा रहा था। साथ ही उसे अपनी पीठ पर वानीरा की देखती हुई आँखों का अनुभव भी रोज की तरह ही हो रहा था। अपने पैरों के पास उसे एक चूहा दिखा ही था कि पीछे से चील ने झपट्टा मार कर उसे अपने पंजों में दबोच लिया। चील का सरसराता एक डैना उसके कंधे को छुआ भी था और वह नीची होती हुई सड़क के साथ नीचे उतर गया।